* ॐ श्रीपरमात्मने नमः *

कल्याण

वर्ष ५२

अङ्क ७

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥

(संस्करण १,५०,०००)

विषय-सूची

कल्याण, सौर श्रावण, श्रीकृष्ण-संवत् ५२०४, जुलाई १९७८

चित्र-सूची

Free of Charge] जय विराट जय जगत्पते। गौरीपति जय रमापते ॥ [बिना मूल्य

आदि सम्पादक—नित्यलीलालीन भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार
सम्पादक, मुद्रक एवं प्रकाशक—मोतीलाल जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर

सदाचारोपदेष्टा भगवान शंकर
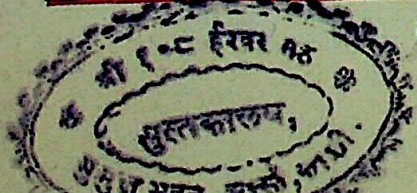
ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

कल्याण

श्रीलाभसुभगः सत्यासक्तः स्वर्गापवर्गदः । जयतात् त्रिजगत्पूज्यः सदाचार इवाच्युतः ॥

वर्ष ५२ } गोरखपुर, सौर श्रावण, श्रीकृष्ण-संवत् ५२०४, जुलाई १९७८ { संख्या ७
पूर्ण संख्या ६२०

भगवान् शंकरद्वारा महर्षि वसिष्ठको तत्त्वोपदेश

अस्मिन् विकारवलिते नियतेर्विलासे
संसारनाम्नि चिरनाटकनाट्यसारे ।
साक्षी सदोदितवपुः परमेश्वरोऽय-
मेकः स्थितो न च तया न च तेन भिन्नः ॥

(योगवासिष्ठ, निर्वाण० पू० ३७ । ३२)

उमापति भगवान् शंकर महर्षि वसिष्ठजीसे कहते हैं—'इस नियतिरूपी नटीके दीर्घकालतक चलनेवाले स्वेद-रोमाञ्चादि नाट्यशास्त्रप्रसिद्ध मनोविकारोंसे युक्त संसाररूपी नाट्यशालामें नित्यसद्विग्रह परमेश्वर ही एकमात्र साक्षी, स्वामी या नट हैं, जो तत्त्वतः नटी एवं नाट्यक्रियासे तनिक भी भिन्न नहीं हैं ।' (अतः इस संसारकी नाट्यशालामें तत्त्वज्ञानयुक्त सदाचारमय अभिनय ही उपयुक्त तथा कल्याणकारी है ।)

कल्याण

चित्तकी धाराका प्रवाह एक भगवान्की ओर ही रहे, इस बातके लिये सदा यत्नशील बने रहो, जगत्की ओर कहीं मुड़े तो वह भी भगवान्की ओर जानेके सीधे रास्तेकी खोजमें ही। कहीं जरा-सी भी गड़बड़ी दीखे तो तुरंत प्रवाहको उस ओरसे वापस मोड़ लो। धन, जन, परिवार, शरीर, यश, सम्मान—कुछ भी तुम्हारे साथ नहीं जायँगे, परलोकमें ये तुम्हारे काम नहीं आयँगे, तुम्हें विपत्तिसे नहीं बचायेंगे। अतएव इनके लिये जीवन मत गँवाओ। यदि भाग्यवश ये मिल गये तो सावधान रहो, कहीं तुमपर इनका नशा न चढ़ जाये—तुम कहीं भगवान्के मार्गसे हट न जाओ; इनसे चिपटो मत, मनको सदा इनसे अलग रखनेकी चेष्टा करो और हो सके तो इनका भी भगवत्प्रीतिमें ही उपयोग करो।

पता नहीं शरीरका अन्त कब हो जाय, अतएव सदा तैयार रहो। जिसके आचरण शुद्ध हैं, जिनमें सद्गुणोंका विकास है, जिसका मन घरमें, परिवारमें, भोगोंमें नहीं अटकता, जो मनसे भगवान्को नहीं भूलता और जो शरीरसे अपनेको सदा अलग, चेतन, नित्य और अविनाशी समझता है, बस वही तैयार है। उसे मृत्युके समय रोना नहीं पड़ता।

जबतक शरीर स्वस्थ है, भोग भोगनेकी शक्ति है, भोगोंमें मन लगा है, मृत्यु सामने दिखायी नहीं देती, तबतक अवश्य ही बहुतोंको लिखी बातें अनावश्यक और कड़वी लग सकती हैं; परंतु एक दिन सभीको इन बातोंपर विचार करना पड़ता है और उस समय पहलेकी भूलका पछतावा बहुत ही भयानक होता है। पहलेसे ही विचार करके चेत जाओ तो अच्छी बात है।

धन, यौवन, रूप, पद, सम्मान, शक्ति, विद्या, वाग्मिता, सब मौतका विकराल मुँह देखते ही सब-की-सब विध्वस्त हो जायँगी। इनसे कुछ भी नहीं होगा। अतएव इनकी प्राप्तिको जीवनका उद्देश्य मत बनाओ और प्राप्त होनेपर तनिक भी अभिमान मत करो। यह चार दिनोंकी चाँदनी जरूर ही नष्ट हो जायगी।

शास्त्र, संत, महात्मा और भक्तोंकी वाणीका अनुशीलन और अनुसरण कर भगवान्पर विश्वास करो; भगवान्के महत्त्वको समझो और भगवान्के प्रेमको पानेके लिये भगवान्की शरण हो जाओ।

काम, क्रोध, लोभ, द्वेष, हिंसा, मत्सर, अभिमान, ममत्व आदि दोष बड़े ही प्रबल हैं। इन सबको समूल नाश करनेका प्रयत्न करो। सत्सङ्ग या साधनाके प्रभावसे कभी-कभी मनुष्यको अपनेमें इन दोषोंका अभाव-सा दीखता है और वह अपनेको पूर्ण मान लेता है; परंतु इनका सर्वथा नष्ट हो जाना कठिन है। दोष दब जाते हैं; परंतु संस्काररूपसे मनमें छिपे रहते हैं, जो अनुकूल परिस्थिति और उत्तेजक कारण उपस्थित होनेपर जाग उठते हैं। यही कारण है कि सर्वथा निर्दोष समझे जानेवाले पुरुषमें भी कभी-कभी इन दोषोंका प्रकाश देखा जाता है।

अतएव अभिमानसे अपनेको बचाते हुए बड़ी ही सावधानीसे भगवान्के बलका आश्रय लेकर इन दोषोंको समूल नष्ट करनेकी चेष्टा करो। काम, क्रोधादिकी जागर्तिका सबल कारण उपस्थित होनेपर भी जब इनकी जागर्ति न हो, तब समझना चाहिये कि इनका नाश हो रहा है। ये संस्काररूपसे भी न रह जायँ, इसके लिये बार-बार आत्मपरीक्षा करके देखना चाहिये।

अपने द्वारा कोई अच्छा काम बन जाय तो उसके लिये भूलकर भी अभिमान मत करो। सफलताके लिये भगवान्के कृतज्ञ होओ और उन्हींकी शक्तिको सफलतामें कारण समझो। सफलताका अभिमान बहुत बाधक है। अभिमान उत्पन्न होते ही सफलता दूर भागने लगती है और कहीं किसी कारणवश ऐसा होनेमें देर होती है तो उसका परिणाम अभिमानकी अत्यन्त वृद्धि हो जानेके कारण और भी भयानक होता है। —श्रीभाईजी

ब्रह्मलीन परमश्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके अमृत-वचन

[भगवत्प्राप्तिके साधनोंमें भाव ही प्रधान है]

संसारमें क्रियाकी अपेक्षा भाव ही प्रधान है। छोटी-से-छोटी क्रिया भी भावकी प्रधानतासे मुक्तितक दे सकती है और उत्तम-से-उत्तम क्रिया भी निम्नश्रेणीका भाव होनेपर नरकमें ले जाती है। जैसे कोई मनुष्य जप, तप, ध्यान, स्तुति, प्रार्थना, पूजा, पाठ, यज्ञ और अनुष्ठान आदि दूसरोंके अनिष्ट या विनाशके लिये करता है तो उसके फलस्वरूप कर्ताको नरककी प्राप्ति होती है। उपर्युक्त अनुष्ठान आदि क्रिया यद्यपि बहुत ही उत्तम है, किंतु भाव तामसी होनेके कारण कर्ताकी अधोगति करनेवाली होती है। भगवान् कहते हैं—

जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः॥
(गीता १४। १८)

'तमोगुणके कार्यरूप निद्रा, प्रमाद और आलस्यादिमें स्थित तामस पुरुष अधोगति अर्थात् कीट, पशु आदि नीच योनियोंको तथा नरकोंको प्राप्त होते हैं।' जब यही उत्तम क्रिया स्त्री, धन, पुत्र आदिकी प्राप्तिके लिये अथवा रोगनिवृत्तिके लिये की जाती है, तब राजसी-भाव होनेके कारण उससे मध्यम गति प्राप्त होती है। सारांश यह कि जिस-जिस भावनासे क्रिया की जाती है, उस-उसके अनुसार ही फलकी प्राप्ति होती है। उपर्युक्त उत्तम क्रिया ही जब कर्तव्य समझकर निष्काम प्रेमभावसे भगवदर्थ की जाती है, तब उसके फलस्वरूप अन्तःकरणकी शुद्धि होकर भगवान्‌की प्राप्ति होती है। इस प्रकार एक ही क्रिया भावके कारण उत्तम, मध्यम और अधम फल देनेवाली होती है। एक सामान्य श्रेणीकी क्रिया है, किंतु भाव यदि उच्चकोटिका है तो वह भी मुक्ति प्रदान करनेवाली हो जा सकती है। जैसे माता-पिता गुरुजनोंके रूपमें बच्चोंका शिक्षण और पालन, उनके मल-मूत्रकी सफाई, डाक्टरके रूपमें चीर-फाड़, सड़क आदिकी सफाई, जलानेके लिये लकड़ियोंका बोझ ढोना, वस्तुओंका न्याययुक्त क्रय-विक्रय, भृत्य तथा सेवाका काम करना—यहाँतक कि गंदगी मिटानेके लिये टट्टी-पेशाब साफ करना—इत्यादि जो सामान्य श्रेणीकी क्रियाएँ हैं, ये सब भी कर्तव्य समझकर निष्काम प्रेमभावसे की जायँ तो इनके फलस्वरूप अन्तःकरणकी शुद्धि होकर परमात्माकी प्राप्तितक हो सकती है और ये ही क्रियाएँ सकामभावसे की जायँ तो इनसे अर्थकी सिद्धि हो सकती है।

कहा जाता है कि भक्तिमती शबरी मार्गपर झाड़ू लगाया करती तथा कूड़ा-करकट-काँटे आदि साफ किया करती एवं जंगलसे लकड़ियाँ एकत्र कर ऋषि-मुनियोंके आश्रमोंके पास रख दिया करती थी। देखनेमें यह सामान्य श्रेणीका काम दीख पड़ता है, किंतु वह निष्काम-भावसे कर्तव्य समझकर करती थी। भाव उत्तम होनेसे उसका अन्तःकरण शुद्ध हो गया और उसे भगवत्प्राप्ति हो गयी।

पद्मपुराणमें कथा आती है कि जब नरोत्तम ब्राह्मण तुलाधार वैश्यके यहाँ गया, तब तुलाधार ग्राहकोंको माल बेचनेमें लगा था। इस कारण उसने कहा कि अभी मुझे अवकाश नहीं है। ग्राहकोंकी यह भीड़ एक पहर रात्रि बीतनेतक रहेगी, उसके बाद ही मुझे अवकाश मिल सकता है, यदि आप इतनी देर न रुक सकें तो आप सज्जन अद्रोहकके पास जाइये, आपके द्वारा जो बगुला मर गया और आपकी धोतीका आकाशमें सूखना बंद हो गया, इन सबका रहस्य आपको आगे मालूम हो जायगा। भगवान्‌ने, जो कि ब्राह्मणके रूपमें नरोत्तमके साथ-साथ चल रहे थे, कहा—'चलो, हम सज्जन अद्रोहकके पास चलें।' यों कह वे वहाँसे सज्जन अद्रोहकके पास जाने

लगे, तब रास्तेमें नरोत्तमने उनसे पूछा कि तुलाधारने मेरे द्वारा बगुलेके भस्म होनेकी बात कैसे जानी ? भगवान्ने बताया कि यह क्रय-विक्रयमें सबके साथ सत्य तथा सम व्यवहार करता है, इसीसे इसे तीनों कालोंका ज्ञान है । इसी कारण तुलाधारके घरमें भगवान् ब्राह्मणके रूपमें निवास करते थे और अन्तमें वह विमानमें बैठकर भगवान्के साथ परम धाममें चला गया । यहाँ विचारना यह है कि तुलाधार वैश्यकी रस आदि क्रय-विक्रयरूप क्रिया तो देखनेमें सामान्य श्रेणीकी है; परंतु स्वार्थत्याग, सचाई, ईमानदारी और समताके व्यवहारके कारण वही क्रिया इतनी उच्च हो गयी कि उसे परमपद प्राप्त करानेवाली सिद्ध हुई ।

इससे यही बात सिद्ध होती है कि भाव ही प्रधान है, क्रिया नहीं । इसलिये हमें उचित है कि हम जब कभी कोई क्रिया करें, उसे उत्तम-से-उत्तम भावपूर्वक करें । जब सामान्य-से-सामान्य क्रिया भी उत्तम-से-उत्तम गति प्राप्त करा सकती है, तब फिर जहाँ क्रिया भी उत्तम-से-उत्तम हो और भाव भी उत्तम-से-उत्तम हो, वहाँ तो कहना ही क्या है । इसी भावको समझनेके लिये निम्नलिखित एक कहानी है ।

भगवान्का एक भक्त साधक था । वह एक पीपलके वृक्षके नीचे रहकर भजन, ध्यान, गीता-पाठ, साधु-सेवा, तप और उपवास आदि किया करता था । एक समय उधरसे देवर्षि नारदजी निकले, तब उसने नारदजीसे पूछा—'भगवन् ! आप कहाँ जा रहे हैं ?' नारदजीने बतलाया—'मैं भगवान्के पास वैकुण्ठमें जा रहा हूँ ।' उसने नारदजीके चरणोंमें सिर नवाया और हाथ जोड़कर उत्सुकतापूर्वक दीनभावसे प्रार्थना की कि क्या आप मेरे लिये भगवान्से यह पूछ लेंगे कि मुझे उनके दर्शन कब होंगे ? नारदजीने कहा—'क्यों नहीं, जरूर पूछकर तुझे उत्तर दूँगा ।' नारदजी वहाँसे चल दिये और प्रेमपूर्वक भगवान्के नाम और गुणोंका कीर्तन करते हुए वैकुण्ठधाम पहुँचे ।

भगवान्ने पूछा—'नारद ! तुम कहाँसे आ रहे हो ?' नारदजीने कहा—'एक वृक्षके नीचे आपका एक भक्त आपके भजन-ध्यान और तपस्यामें संलग्न है । भगवन् ! उसकी सेवा-पूजा, भजन-ध्यान और तपस्या प्रशंसाके योग्य है । अभी मैं वहींसे आ रहा हूँ । प्रभो ! उसने मेरे द्वारा आपसे यह पुछवाया है कि उसे आपके दर्शन कब होंगे ?' भगवान् बोले—'नारद ! यह बात तुम मत पूछो ।' नारदजीकी उत्सुकता और बढ़ी । उन्होंने कहा—'क्यों नहीं भगवन् !' भगवान्ने उत्तर दिया—'नारद ! वह जिस प्रकार भजन-ध्यान, सेवा-शुश्रूषा और तपस्या कर रहा है, उस प्रकार करते रहनेपर तो उसे मेरे दर्शन होनेमें बहुत विलम्ब होगा । इस प्रकार साधन करनेपर तो उसे उस पीपलके वृक्षके जितने पत्ते हैं, उतने वर्षोंबाद मेरे दर्शन होंगे ।' भगवान्की यह बात सुनकर नारदजी सहम गये; उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ और वे बोले—'भगवन् ! वह तो बहुत ही तीव्रतासे सेवा-शुश्रूषा, जप-ध्यान, तपस्या आदि कर रहा है, फिर उसके लिये इतना विलम्ब क्यों ?' भगवान्ने कहा—'नारद ! तुम इसका रहस्य नहीं समझते, मैं जो कुछ कहता हूँ, वही उससे कह देना ।'

नारदजी वहाँसे लौटकर उसी पीपलके वृक्षके नीचे बैठे उस भक्तके पास पहुँचे । नारदजीको देखते ही वह उनके चरणोंपर गिर पड़ा और बड़ी व्यग्रतासे पूछने लगा—'प्रभो ! क्या मेरी चर्चा भी वहाँ चली थी ?' उसकी व्याकुलताभरी बात सुनकर नारदजी मुग्ध हो गये और बोले—'तुम्हारा प्रसङ्ग चला तो था, किंतु कहनेमें संकोच होता है ।' भक्तने कहा—'भगवन् ! संकोच किस बातका है ? क्या भगवान्ने स्पष्ट अस्वीकार कर दिया ? क्या इस जन्ममें मुझे भगवान् नहीं मिलेंगे ? जो भी हो, आप मुझे बतलाइये तो सही । आप संकोच न करें, मुझे इससे कोई दुःख नहीं होगा ।'

उसके आग्रह करनेपर नारदजीने सारी बातें ज्यों-की-त्यों बतला दीं और कहा—'अन्तमें भगवान्ने तुम्हारे लिये यही कहा है कि इस प्रकार साधन करते-करते उसे इस पीपलके वृक्षके जितने पत्ते हैं, उतने वर्षों बाद मेरे दर्शन होंगे।' इतना सुनते ही वह भक्त आश्चर्यचकित हो गया और करुणाभावपूर्वक गद्गद वाणीसे कहने लगा—'क्या मुझ-जैसे अधमको सचमुच भगवान्के दर्शन होंगे? क्या यह बात भगवान्ने अपने श्रीमुखसे कही है? अहा! जब कभी हो, मुझे भगवान्के दर्शन तो अवश्य ही होंगे।' नारदजी बोले—'होंगे तो सही; क्योंकि भगवान्ने स्वयं अपने श्रीमुखसे कहा है, किंतु होंगे बहुत ही विलम्बसे।' यह सुनकर कि भगवान्के दर्शन अवश्य होंगे, भक्तके आनन्दका ठिकाना नहीं रहा। उसका भाव एकदम बदल गया। वह आनन्दविह्वल होकर प्रेमार्द्रभावसे भगवान्के नाम और गुणोंका कीर्तन करता हुआ उन्मत्तकी भाँति नाचने लगा। आनन्द और प्रेममें वह इतना निमग्न हो गया कि उसे अपने तनकी भी सुधि नहीं रही। भगवान् उसके समक्ष प्रकट हो गये।

भगवान्को देखकर नारदजी अवाक् रह गये। उन्होंने पूछा—'भगवन्! आप तो कहते थे कि इस प्रकार साधन करते-करते, इस वृक्षके जितने पत्ते हैं, उतने वर्षों बाद मेरे दर्शन होंगे। परंतु वर्षोंकी बात तो दूर रही, अभी तो एक मुहूर्त भी नहीं बीत पाया है कि आप प्रकट हो गये!' भगवान् बोले—'नारद! वह बात दूसरी थी और यह बात ही दूसरी है। मैंने तुमसे कहा था न कि तुम इसके रहस्यको नहीं जानते।' नारदजीने कहा—'प्रभो! इसका क्या रहस्य है, वह मुझे बतलाइये।' भगवान् बोले—'नारद! उस समय तो इसके साधनमें क्रियाकी ही प्रधानता थी, किंतु अब तो क्रियाके साथ-साथ ही भाव भी है। साधुओंकी सेवा-शुश्रूषा, व्रत, उपवास, तपस्या, गीता-पाठ सत्पुरुषोंका संग, स्वाध्याय और भजन-ध्यान आदि साधनरूप मेरी भक्ति करना बहुत ही उत्तम क्रियाएँ हैं। इन सब क्रियाओंके साथ जबतक अनन्य प्रेमभाव नहीं होता, तबतक उसके लिये विलम्ब होना उचित ही है। जब भक्त अपनेको भुलाकर अनन्य प्रेमभावमें मुग्ध होकर केवल मेरे भजन-कीर्तनमें ही निमग्न हो जाता है, तब मैं एक क्षण भी नहीं रुक सकता।

'इस समय इसका जो अपूर्व पवित्र प्रेम भाव है, उसकी ओर तो देखो, उस समय क्रिया उत्तम रहते हुए भी इसका ऐसा भाव नहीं था, जैसा अब है। इसीलिये मैंने यह कहा था कि इस प्रकारका साधन करनेपर तो उस वृक्षके जितने पत्ते हैं, उतने वर्षोंके बाद मेरे दर्शन होंगे।' इस रहस्यको सुनकर नारदजी भी प्रेमविह्वल हो गये और भावावेशमें अपनी सारी सुध-बुध भूलकर भगवान्के नाम और गुणोंका कीर्तन करते हुए नृत्य करने लगे।

दोनों भक्तोंकी इस प्रेममयी स्थितिसे स्वयं भगवान् भी प्रेममग्न हो गये। उनकी भी वैसी ही स्थिति हो गयी। भगवान्की तो यह प्रतिज्ञा ही ठहरी कि—

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।

(गीता ४। ११)

'जो भक्त मुझे जिस प्रकार भजते हैं, मैं भी उनको उसी प्रकार भजता हूँ।'

यों कुछ समयतक प्रेमराज्यकी विचित्र स्थितिमें रहनेके अनन्तर तीनोंको जब बाह्य चेतना हुई, तब वे प्रेममें मुग्ध हुए परस्पर बातचीत करने लगे। तदनन्तर भगवान् उस भक्तके साथ विमानमें बैठकर परमधाममें पधार गये और नारदजी प्रेममें विभोर होकर भगवद्गुणानुवाद गाते हुए अपने गन्तव्यकी ओर चल दिये।

इस प्रसङ्गसे हमें यह शिक्षा लेनी चाहिये कि समस्त क्रियाओंमें भगवान्की भक्ति उत्तम है; किंतु उस भक्तिके साथ निष्काम और अनन्य प्रेमभावका समावेश होनेपर ही भगवान्के मिलनमें एक क्षणका विलम्ब नहीं होता। इसलिये भजन-ध्यानादि उत्तम क्रियाएँ उपर्युक्त प्रकारसे निष्कामभावसे अनन्य प्रेमभावपूर्वक ही निरन्तर करनी चाहिये।

भगवान् शिव और उनकी उपासना

(नित्यलीलालीन परमश्रद्धेय भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार)

लोकत्रयस्थितिलयोदयकेलिकारः
कार्येण यो हरिहरद्रुहिणत्वमेति ।
देवः स विश्वजनवाङ्मनसातिवृत्तः
शक्तिः शिवं दिशतु शश्वदनश्वरं वा ॥

परात्पर सच्चिदानन्द परमेश्वर शिव एक हैं, वे विश्वातीत हैं और विश्वमय भी हैं । वे गुणातीत हैं और गुणमय भी हैं । वे एक ही हैं और अनेक-रूप बने हुए हैं । वे जब अपने विस्तार-रहित अद्वितीय स्वरूपमें स्थित रहते हैं, तब मानो यह असंख्य रूपोंवाली विविध विलासमयी विश्व-नाट्यशालाके खेलकी नटी प्रकृति-देवी भी उनमें विलीन रहती हैं । यही शक्तिकी शक्तिमान्‌में अक्रिय, अव्यक्त स्थिति है—शक्ति है; परंतु दीखती नहीं है, क्योंकि वह बाह्य क्रियारहित है । पुनः जब वही शिव अपनी शक्तिको व्यक्त और क्रियान्विता करते हैं, तब वही क्रीडामयी शक्ति-प्रकृति शिवको ही विविध रूपोंमें प्रकट कर उनके खेलका साधन उत्पन्न करती है । एक ही देव विविध रूप धारणकर अपने-आप ही अपने-आपसे खेलते हैं । यही विश्वका विकास है । यहाँ शिव-शक्ति दोनोंकी लीला चलती है । शक्ति क्रियान्विता होकर शक्तिमान्‌के साथ तब प्रत्यक्ष प्रकट विलास करती है । यही परात्पर परमेश्वर शिव, महाशिव, महाविष्णु, महाशक्ति, गोकुलविहारी श्रीकृष्ण साकेताधिपति श्रीराम आदि नाम-रूपोंसे प्रसिद्ध हैं । सच्चिदानन्द विज्ञानानन्दघन परमात्मा शिव ही भिन्न-भिन्न सर्ग-महासर्गोंमें भिन्न-भिन्न नाम-रूपोंसे अपनी परात्परताको प्रकट करते हैं । जहाँ जटाजूटधारी श्रीशिवरूप सबके आदि उत्पन्नकर्ता और सर्वपूज्य महेश्वर उपास्य हैं तथा अन्य नाम-रूपधारी उपासक हैं, वहाँ वे शिव ही परात्पर महाशिव हैं तथा अन्यान्य देव उनसे अभिन्न होनेपर भी उन्हींके स्वरूपसे प्रकट, नाना रूपों और नामोंसे प्रसिद्ध होते हुए सत्त्व-रज-तम गुणोंको लेकर आवश्यकतानुसार कार्य करते हैं । उस महासर्गमें भिन्न-भिन्न ब्रह्माण्डोंमें ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र आदि देवता भिन्न-भिन्न होनेपर भी सब उन एक ही परात्पर महाशिवके उपासक हैं । इसी प्रकार किसी सर्ग या महासर्गमें महाविष्णुरूप परात्पर होते हैं और अन्य देवता उनसे प्रकट होते हैं, किसीमें ब्रह्मारूप, किसीमें महाशक्ति रूप, किसीमें श्रीकृष्णरूप और किसीमें श्रीरामरूप परात्पर ब्रह्म होते हैं तथा अन्यान्य स्वरूप उन्हींसे प्रकट होकर उनकी उपासनाकी और उनके अधीन सृष्टि, पालन और विनाशकी विविध लीलाएँ करते हैं । इस तरह एक ही प्रभु भिन्न-भिन्न रूपोंमें प्रकट होकर उपास्य-उपासक, स्वामी-सेवक, राजा-प्रजा, शासक-शासितरूपसे लीला करते हैं । हाँ, एक बात ध्यानमें रखनी चाहिये कि सृष्टि, पालन और संहार करनेवाले परात्परसे प्रकट त्रिदेव उनसे अभिन्न और पूर्ण शक्तियुक्त होते हुए भी(वे तीनों)भिन्न-भिन्न प्रकारकी क्रिया करते हैं तथा तीनोंकी शक्तियाँ भी अपने-अपने कार्यके अनुसार सीमित ही देखी जाती हैं ।

यह नहीं समझना चाहिये कि परात्पर महाशिव परब्रह्मके ये सब भिन्न-भिन्न रूप काल्पनिक हैं । सभी रूप भगवान्‌के होनेके कारण नित्य, शुद्ध और दिव्य हैं । प्रकृतिके द्वारा रचे जानेवाले विश्वप्रपञ्चके विनाश होनेपर भी इनका विनाश नहीं होता; क्योंकि ये प्रकृतिकी सत्तासे परे स्वयं प्रभु परमात्माके स्वरूप हैं । जैसे परमात्माका निराकार रूप प्रकृतिसे परे नित्य निर्विकार है, इसी प्रकार उनके ये साकार रूप भी प्रकृतिसे परे नित्य निर्विकार हैं । अन्तर इतना ही

है कि निराकार-रूप कभी शक्तिको अपने अंदर इस प्रकार विलीन किये रहता है कि उसके अस्तित्वका ही पता नहीं लगता और कभी निराकार रहते हुए ही शक्तिको विकासोन्मुखी करके गुणसम्पन्न बन जाता है; परंतु साकाररूपमें शक्ति सदा ही जाग्रत्, विकसित और सेवामें नियुक्त रहती है। हाँ, कभी-कभी वह भी अन्तःपुरकी महारानीके सदृश बाहर सर्वथा अप्रकट-सी रहकर प्रभुके साथ क्रीडारत रहती है और कभी बाह्य लीलामें प्रकट हो जाती है, यही नित्यधामकी लीला और अवतार-लीलाका तारतम्य है।

नित्यधामके शिव-शक्ति, विष्णु-लक्ष्मी, ब्रह्मा-सावित्री, कृष्ण-राधा और राम-सीता ही समय-समयपर अवताररूपसे प्रकट होकर बाह्य लीला करते हैं। ये सब एक ही परमतत्त्वके अनेक नित्य और दिव्य स्वरूप हैं। अवतारोंमें कभी तो परात्पर स्वयं अवतार लेते हैं और कभी सीमित शक्तिसे कार्य करनेवाले त्रिदेवोंमेंसे किसीका अवतार होता है। जहाँ दण्ड और मोहकी लीला होती है, वहाँ दण्डित एवं मोहित होनेवाले अवतारोंको ससीम शक्तिसम्पन्न तथा दण्डदाता और मोह उत्पन्न करनेवालेको परात्पर प्रभु समझना चाहिये। जैसे—नृसिंहरूपको शरभरूपके द्वारा दण्ड दिया जाना और शिवरूपका विष्णुद्वारा मोहिनीरूपसे मोहित होना आदि। कहीं-कहीं परात्परके साक्षात् अवतारोंमें भी ऐसी लीला देखी जाती है, परंतु उसका गूढ़ रहस्य कुछ और ही होता है जो उनकी कृपासे ही समझमें आ सकता है।

शिवके रूप कल्पनाप्रसूत नहीं हैं

आज श्रीशिवस्वरूपकी कुछ चर्चा करके लेखनीको पवित्र करना है। कुछ लोगोंकी अनुभवहीन समझ, सूझ या कल्पना है कि भगवान् शिवका साकार स्वरूप कल्पनामात्र है। उनके एकमुख, पञ्चमुख, सर्पभूषित, नीलकण्ठ, मदनदहन, वृषभ, कार्तिकेय, गणेश आदि गुणयुक्त नाम रूप सभी काल्पनिक हैं। इसलिये इन्हें वास्तविक न मानकर रूपक ही समझना चाहिये। परंतु वास्तवमें बात ऐसी नहीं है। ये सभी सत्य हैं। जिन भक्तोंने भगवान् श्रीशिवकी कृपासे इन रूपों और लीलाओंको देखा है या जो आज भी भगवत्कृपासे प्राप्त साधन-बलसे देख सकते हैं अथवा देखते हैं तथा साक्षात् अनुभव करते हैं, वे ही इस तत्त्वको समझते हैं और उन्हींकी बातका वस्तुतः कुछ मूल्य है। उल्लूको सूर्य नहीं दीखता—इससे जैसे सूर्यके अस्तित्वमें कोई बाधा नहीं आती, इसी प्रकार किसीके मानने-न-माननेसे भगवत्स्वरूपका कुछ भी बनता-बिगड़ता नहीं। हाँ, माननेवाला लाभ उठाता है और न माननेवाला हानि। एक बात ध्यानमें रखनी चाहिये कि भगवान्की प्रत्येक लीला वास्तवमें इसी प्रकारकी होती है, जिससे पूरा-पूरा आध्यात्मिक रूपक भी बँध सके; क्योंकि वे जगत्की शिक्षाके लिये ही अपने नित्य स्वरूपको धरातलपर प्रकट करके लीला किया करते हैं। वेद, महाभारत, भागवत, विष्णुपुराण, शिवपुराण आदि सभी ग्रन्थोंमें वर्णित भगवान्की लीलाओंके रूपक बन सकते हैं, परंतु रूपक ठीक बैठ जानेसे ही असली स्वरूपको काल्पनिक मान लेना वैसी ही भूल है, जैसी पिताके छायाचित्र (फोटो)को देखकर उसके अस्तित्वको न मानना।

शिव-पूजा

कुछ लोग कहते हैं कि शिव-पूजा अनार्योंकी चीज है, पीछेसे आर्योंमें प्रचलित हो गयी। इस कथनका आधार वह मिथ्या कल्पना या अन्धविश्वास है जिसके बलपर यह कहा जाता है कि आर्य-जाति भारतवर्षमें पहलेसे नहीं बसती थी; पहले यहाँ अनार्य रहते थे, आर्य पीछेसे आये। दो-चार विदेशी लोगोंने अटकल-पच्चू ऐसा कह दिया, बस, उसीको ब्रह्मवाक्य मानकर

सब उन्हींका अनुकरण करने लगे । शिव-पूजाके प्रमाण अब उस समयके भी मिल गये हैं, जिस समय इन लोगोंके मतमें आर्य-जाति यहाँ नहीं आयी थी । इसलिये इन्हें यह कहना पड़ा कि शिव-पूजा अनार्योंकी है । जो भ्रान्तिवश वेदोंके निर्माण-कालको केवल चार हजार वर्ष पूर्वका ही मानते हैं, उनके लिये ऐसा समझना स्वाभाविक है; परंतु वास्तवमें यह बात नहीं है । भारतवर्ष निश्चय ही आर्योंका मूल-निवास है और शिव-पूजा अनादि कालसे ही प्रचलित है; क्योंकि सारा विश्व शिवसे ही उत्पन्न है, शिवमें स्थित है और शिवमें ही विलीन होता है । शिव ही इसको उत्पन्न करते हैं, शिव ही इसका पालन करते हैं और शिव ही संहार करते हैं । विभिन्न तीन कार्योंके लिये ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र—ये तीन नाम हैं । जब शिव अनादि हैं, तब शिवकी पूजाको परवर्ती बतलाना सरासर भूल है । परंतु क्या किया जाय ? वे लोग चार-पाँच हजार वर्षसे पीछे हटना ही नहीं चाहते, उनके चारों युग इसी कालमें पूरे हो जाते हैं । उनके इतिहासकी यही सीमा है । इससे पहले-के कालको तो वे 'प्रागैतिहासिक युग' मानते हैं । मानो उस समय कुछ था ही नहीं और कहीं कुछ था तो उसको समझने, जानने या लिखनेवाला कोई नहीं था । प्राचीनताको—चारों युगोंको चार-पाँच हजार वर्षकी सीमामें बाँधकर वेद, रामायण, महाभारत, पुराण आदि समस्त ग्रन्थोंमें वर्णित घटनाओंको तथा उनके ग्रन्थोंको इसी कालके अंदर सीमित मानकर तरह-तरहकी अद्भुत अटकलों-द्वारा इधर-उधरके कुलाबे मिलाकर मनगढ़ंत बातोंका प्रचार करते हैं और इसीका नाम आज नवीन शोध या रिसर्च देते हैं । इस विचित्र रिसर्चके युगमें प्राचीनताकी बातें सुनना बेवकूफी समझा जाता है ! भला, बेवकूफी कौन करे ? अतः स्वयं बेवकूफीसे बचनेके लिये पूर्वजोंको बेवकूफ बनाना चाहते हैं ! कुछ लोग श्रीशिव आदिके स्वरूप और उनकी लीलाएँ तथा उनकी उपासना-पद्धतिका पूरा रहस्य न समझनेके कारण उनमें दोष देखते हैं, फिर इनके रहस्यसे सर्वथा अनभिज्ञ विद्वान् माने जानेवाले अन्यदेशीय आधुनिक शिक्षाप्राप्त प्रसिद्ध पुरुष भगवान्के इन स्वरूपों, लीलाओं तथा पूजा-पद्धतिका जब उपहास करते हैं तथा इन्हें माननेवालोंको मूर्ख बतलाते हैं, तब तो इन लोगोंको आदर्श विद्वान् समझने-वाले एकदेशीय उपर्युक्त पुरुषोंकी दोषदृष्टि और भी बढ़ जाती है और प्रत्यक्षदर्शी तत्त्वज्ञ ऋषियोंद्वारा रचित इन ग्रन्थोंसे, इनमें वर्णित घटनाओंसे, इनके सिद्धान्तोंसे लज्जाका अनुभव करते हुए घरमें, देशमें इन्हें कोसते हैं और बाहर अपने धर्म तथा देशको लज्जा तथा उपहाससे बचानेके लिये उन कथाओंसे नये-नये रूपोंकी कल्पना कर विदेशी विद्वानोंकी दृष्टिमें अपने धर्म और इतिहासको तथा देवतावादको निर्दोष एवं विज्ञान-सम्मत उच्च दार्शनिक भावोंसे सम्पन्न सिद्ध करनेका प्रयत्नकर उसके असली तत्त्वको ढँक देते हैं और इस तरह तत्त्वसे सर्वथा वञ्चित रह जाते हैं ।

शास्त्र-रहस्यसे अनभिज्ञ, अतत्त्वविद् आधुनिक विद्वानोंकी बुद्धिको ही सर्वांशमें आदर्श मानकर उनके द्वारा उत्तम कहाने-हेतु भारतीय विद्वानोंने भारतीय धर्म-ग्रन्थोंमें वर्णित तत्त्व तथा इतिहासोंको एवं भगवान्की लीलाओंको, अपनी सभ्यताके और ग्रन्थोंके गौरवको बढ़ानेकी अच्छी नीयतसे भी जो उनका मखौल उड़ाने तथा उनका बुरी तरह अर्थान्तर करने और उन्हें समझानेकी चेष्टा की है एवं कर रहे हैं, उसे देखकर रहस्यविद् तत्त्वज्ञ लोग हँसते हैं । साथ ही इन लोगोंकी इस प्रकारकी प्रगतिका अशुभ परिणाम सोचकर खिन्न भी होते हैं । रहस्य खुलनेपर ही पता लगता है कि हमारे शास्त्रोंमें वर्णित सभी बातें सत्य हैं और हमें लजानेवाली नहीं, वरं संसारको ऊँची-से-ऊँची शिक्षा देनेवाली हैं; परंतु इस रहस्यका

उद्‌घाटन भगवत्कृपासे एवं आप्त तत्त्वज्ञ सद्‌गुरुकी कृपासे ही हो सकता है। खेद है कि आजकल गुरु-मुखसे ग्रन्थोंका रहस्य जाननेकी प्रणाली प्रायः नष्ट हो गयी है और अपने-आप ही अध्ययन और मनमाना अर्थ करनेकी प्रथा चल पड़ी है, जिससे रहस्य-मन्दिरके दरवाजेपर ताले लगते जा रहे हैं। पता नहीं, इसके परिणामस्वरूप हमारा जीवन कितना बहिर्मुख और जड-भावापन्न हो जायगा।

शिव तामसी देवता नहीं हैं

कुछ लोग भगवान् शिवको मानते तो हैं, किंतु उन्हें तामसी देव मानकर उनकी उपासना करनेमें दोष समझते हैं। वास्तवमें यह उनका भ्रम है, जो बाह्य दृष्टिवाले साम्प्रदायिक आग्रही मनुष्योंका पैदा किया हुआ है। जिन भगवान् शिवका गुणगान वेदों, उपनिषदों और वैष्णव कहे जानेवाले पुराणोंमें भी गाया गया है, उन्हें तामसी बतलाना अपने ही तमोगुणी होनेका परिचय देना है। परात्पर महाशिव तो सर्वथा गुणातीत हैं, वहाँ तो गुणोंकी क्रिया ही नहीं है। भगवान्‌की दिव्य प्रकृति ही वहाँ क्रिया करती है और जिन त्रिदेव-मूर्तियोंमें सत्त्व, रज-तमकी लीलाएँ होती हैं, उनमें भी उनका स्वरूप गुणोंकी क्रियाके अनुसार नहीं है। भिन्न-भिन्न क्रियाओंके कारण सत्त्व, रज, तमका आरोप है। वस्तुतः ये तीनों दिव्य चेतन विग्रह भी गुणातीत ही हैं।

शिव मोक्षदाता हैं

कुछ लोग भगवान् शंकरपर श्रद्धा रखते हैं, उन्हें परमेश्वर मानते हैं, परंतु मुक्तिदाता न मानकर लौकिक फलदाता ही समझते हैं और प्रायः लौकिक कामनाओंकी सिद्धिके लिये ही उनकी भक्ति या पूजा करते हैं। इसमें कोई संदेह नहीं कि परम उदार, आशुतोष, भगवान् सदाशिवमें दयाकी लीलाका विशेष प्रकाश होनेके कारण वे भक्तोंकी मनमानी वस्तु देनेके लिये सदा ही तैयार रहते हैं, परंतु इससे इन्हें मुक्तिदाता न समझना बड़ा भारी प्रमाद है। जब भगवान् शिवके स्वरूपका तत्त्वज्ञान ही मुक्तिका नामान्तर है, तब उन्हें मुक्तिदाता न मानना सिवा भ्रमके और क्या हो सकता है? वास्तवमें लौकिक कामनाओंने हमारे ज्ञानको हर लिया है, इसीलिये परमज्ञानस्वरूप शिवपर अपने अज्ञान-का आरोप करके उनकी शक्तिको लौकिक कामनाओं-की पूर्तितक ही सीमित मान लेते हैं और शिवकी पूजा करके भी अपनी अज्ञतावश परम लाभसे वञ्चित रह जाते हैं। भगवान् शिव शुद्ध, सनातन, विज्ञानानन्दघन परमब्रह्म हैं, उनकी उपासना परम लाभके लिये या उनका पुनीत प्रेम प्राप्त करनेके लिये ही करनी चाहिये। सांसारिक हानि-लाभ प्रारब्धवश होते रहते हैं। इनके लिये चिन्ता करनेकी आवश्यकता नहीं। शंकरकी शरण लेनेसे कर्म शुभ और निष्काम हो जायँगे, जिससे आप ही सांसारिक कष्टोंका नाश हो जायगा; पूर्वकृत कर्मोंके शेष रहनेतक कष्ट होते भी रहें तो क्या आपत्ति है? उनके लिये न तो चिन्ता करनी चाहिये और न भगवान् शंकरसे उनके नाशार्थ प्रार्थना ही करनी चाहिये। नाम-रूपसे सम्बन्ध रखनेवाले, आने-जानेवाले सुख-दुःखकी चिन्ता भक्त क्यों करने लगा? लौकिक सुखका सर्वथा नाश होकर महान् विपत्ति पड़नेपर भी यदि भगवान्‌का भजन होता रहे तो भक्त उस विपत्तिको परम सम्पत्ति मानता है, परंतु उस सम्पत्ति और सुखका वह मुँह भी नहीं देखना चाहता, जो भगवान्‌के भजनको भुला देते हैं। भजन बिना जीवन, धन, परिवार, यश, ऐश्वर्य—सभी उसको विषवत् भासते हैं। भक्तको तो देवी पार्वतीकी भाँति सर्वथा अनन्य प्रेमभावसे भगवान् शिवकी उपासना ही करनी चाहिये। एक बात बहुत ध्यानमें रखनेकी है, भगवान्

शिवके उपासकमें जगत्के भोगोंके प्रति वैराग्य अवश्य होना चाहिये। यह निश्चित सिद्धान्त है कि विषय-भोगोंमें जिनका चित्त आसक्त है, वे परमपदके अधिकारी नहीं हो सकते; उनका पतन ही होता है। ऐन्द्रिय विषयोंको प्राप्त करके अथवा विषयोंसे भरपूर जीवनमें रहकर उनसे सर्वथा निर्लिप्त रहना जनक-सरीखे इने-गिने पूर्वाभ्यास-सम्पन्न पुरुषोंका ही कार्य है। अनुभव तो यह है कि विषयोंका सङ्ग तो क्या, उनके चिन्तनमात्रसे भी मनमें विकार उत्पन्न हो जाते हैं। भगवान् भोलेनाथ विषय माँगनेवालेको विषय और मोक्ष माँगनेवालेको मोक्ष दे देते हैं। और, प्रेमका भिखारी उनके प्रेमको प्राप्त कर धन्य होता है। वे कल्पवृक्ष हैं। मुँहमाँगा वरदान देनेवाले हैं। यदि उपासकने उनसे विषय माँगा तो वे विषय दे सकते हैं; परंतु विषय उसके लिये विषका कार्य करेगा और अन्तमें दुःखदायी होगा। कामनासे घिरे हुए विषय-परायण मूढ़ पुरुष ही असुर हैं। ऐसे असुरोंके अनेक दृष्टान्त प्राप्त होते हैं, जिन्होंने भगवान् शिवजी-की उपासना करके उनसे विषय माँग लिये और यथार्थ लाभसे वञ्चित रह गये। अतएव भगवान् शिवके उपासकको जगत्के विषयोंकी आसक्ति छोड़ यथार्थ वैराग्यसम्पन्न होकर परम वस्तुकी ही चाहना करनी चाहिये, जिससे यथार्थ कल्याण हो। याद रखना चाहिये कि शिव स्वयं कल्याणस्वरूप हैं, उनकी उपासनासे उपासकका कल्याण बहुत ही शीघ्र हो जाता है। केवल विश्वास करके लग जानेमात्रकी देर है। भगवान्के दूसरे स्वरूप बहुत छान-बीनके अनन्तर फल देते हैं, परंतु औढरदानी आशुतोष शिव तत्काल फल देते हैं।

औढरदानी या आशुतोषका यह अर्थ नहीं करना चाहिये कि विज्ञानानन्दघन शिवस्वरूपमें बुद्धि या विवेककी कमी है। ऐसा मानना तो प्रकारान्तरसे उनका अपमान करना है। बुद्धि या विवेकके उद्गम-स्थान ही भगवान् शिव हैं। उन्हींसे बुद्धि प्राप्त कर समस्त देव, ऋषि-मनुष्य अपने-अपने कार्योंमें लगे रहते हैं। अलग-अलग रूपोंमें कुछ अपनी-अपनी विशेषताएँ रहती हैं। शंकररूपमें यही विशेषता है कि वे बहुत शीघ्र प्रसन्न होते हैं और भक्तोंकी मनःकामना-पूर्तिके समय भोले-से बन जाते हैं, परंतु संहारका मौका आता है, तब रुद्ररूप बनते भी उन्हें देर नहीं लगती।

शिवरूपका रहस्य गहन है

भगवान् शंकरको भोलानाथ मानकर ही लोग उन्हें गँजेड़ी-भँगेड़ी, नशेबाज और बावला समझकर उनका उपहास करते हैं। विनोदसे भक्त सब कुछ कर सकते हैं और भक्तका आरोप भगवान् स्वीकार भी कर लेते हैं; परंतु जो वस्तुतः शिवको पागल, श्मशानवासी औघड़, नशेबाज आदि समझते हैं, वे गहरी भूलमें हैं। शंकरका श्मशाननिवास, उनकी उन्मत्तता, उनका विष-पान, उनका सर्पाङ्गीपन आदि बहुत गहरे रहस्यको लिये हुए हैं, जिसे श्रीशिवकी कृपासे शिव-भक्त ही समझ सकते हैं। जैसे व्यभिचारप्रिय लोग भगवान् श्रीकृष्णकी रासलीलाको व्यभिचारका रूप देकर प्रकारान्तरसे अपने पापमय व्यभिचार-दोषका समर्थन करते हैं, इसी प्रकार सदाचारहीन, अवैदिक क्रियाओंमें रत, नशेबाज मनुष्य शिवके अनुकरणका ढोंग रचकर अपने दोषोंका समर्थन करना चाहते हैं। वस्तुतः शिवभक्तको सदाचारपरायण रहकर गाँजा, भाँग, मतवालापन, अपवित्र वस्तुओंके सेवन, अपवित्र आचरण आदिसे सदा बचते रहना चाहिये—यही शंकरका आदेश है।

कल्याणरूप शिव

भगवान् शिवको परात्पर मानकर सेवन करनेवालेके लिये तो वे परमब्रह्म हैं ही, अन्यान्य भगवत्-स्वरूपोंके उपासकोंके लिये भी, जो शिवस्वरूपको परमब्रह्म नहीं मानते, भगवान् शिव मार्गदर्शक परमगुरु अवश्य हैं।

भगवान् विष्णुके भक्तके लिये भी सद्गुरुरूपसे शिवकी उपासना आवश्यक है।

वैष्णवग्रन्थोंमें इसका यथेष्ट उल्लेख है और साधकोंके अनुभव भी प्रमाण हैं। शक्तिके उपासक शक्तिमान् शिवको छोड़ ही कैसे सकते हैं ? शिवके बिना शक्ति अकेली क्या करेगी ? गणेश और कार्तिकेय तो शिवके पुत्र ही हैं। पुत्रको पूजे और पिताका अपमान करे, यह कभी शिष्ट मर्यादा नहीं हो सकती। सूर्यदेव तो भगवान् शिवके तेजोलिङ्गके ही नामान्तर हैं। इसके अतिरिक्त अन्यान्य मतावलम्बियोंके लिये भी कम-से-कम श्रद्धा-विश्वासरूप शक्ति-शिवकी आवश्यकता रहती है। योगियोंके लिये तो परमयोगीश्वर शिवकी आराधनाकी नितान्त आवश्यकता है ही, ज्ञानके साधक भी परमकल्याणरूप शिवकी ही प्राप्ति चाहते हैं। न्याय, वैशेषिक आदि दर्शन भी शिव-विद्याके अनुमोदक हैं। तन्त्र तो शिवोपासनाके लिये ही बने हैं। ऐसी अवस्थामें जिस किसी भी दृष्टिसे शिवको परम परमात्मा, महाज्ञानी, महान् विद्वान्, योगीश्वर, देवदेव, जगद्गुरु, सद्गुरु, महान् उपदेशक, उत्पादक, संहारक—कुछ भी मानकर उनकी उपासना करना सबके लिये कर्तव्य है। और सुख—कल्याणकी इच्छा स्वाभाविक होनेके कारण प्रत्येक जीव कल्याणरूप शिवकी ही उपासना करता है।

लिङ्ग शब्दका अर्थ

कुछ लोग भगवान् शिवकी लिङ्गपूजामें अश्लीलताकी कल्पना करते हैं, यह वास्तवमें उनकी अज्ञता, नास्तिकता और अनभिज्ञता ही है। यह सत्य है कि लिङ्ग शब्दके अनेक अर्थोंमें लोकप्रसिद्ध अर्थ अश्लील है, परंतु वैदिक शब्दोंका यौगिक अर्थ लेना ही समीचीन है। यौगिक अर्थमें कोई अश्लीलता नहीं रह जाती। इसके अतिरिक्त यह बात भी है कि अश्लीलता प्रसङ्गसे ही आती है। विषयात्मक वर्णनमें भी जो अश्लील या अनुचित प्रतीत होता है, वही वैज्ञानिक एवं आध्यात्मिक वर्णनोंमें श्लील तथा सर्वथा समुचित हो जाता है।

लिङ्ग शब्दका साधारण अर्थ चिह्न या लक्षण है। सांख्यदर्शनमें प्रकृतिको, प्रकृति-विकृतिको भी लिङ्ग कहते हैं। देव-चिह्नके अर्थमें लिङ्ग शब्द भगवान् शंकरकी लिङ्गमूर्तिके लिये ही आता है। अन्य देव-प्रतिमाओंको मूर्ति कहते हैं। यह असलमें अरूपका चिह्न है। दूसरोंका प्रकार मूर्तिमान्के ध्यानके अनुसार होता है, परंतु इसमें आकार या रूपका प्रदर्शन नहीं है। यह चिह्नमात्र है। कोई-कोई इसे परमात्माकी दिव्य ज्योतिका द्योतक स्वरूप मानते हैं, इसलिये ज्योतिर्लिङ्ग भी इसीका नाम है। एक जगह **'लयनाल्लिङ्गमुच्यते'** कहा गया है अर्थात् जिससे लय या प्रलय होता है, उसे लिङ्ग कहते हैं। भगवान् रुद्र ही प्रलय करते हैं, संहारके देवता वे ही हैं। प्रलयके समय सब कुछ उनमें—शिवलिङ्गमें समा जाता है और फिर सृष्टिके आदिमें पुनः लिङ्गसे ही सब कुछ प्रकट होता है। इसलिये लयसे लिङ्ग शब्दका उदय माना गया है। उसीसे विश्वकी प्रलय होती है और उसीमें सम्पूर्ण विश्वका लय होता है। भगवान् शंकर निर्विकार हैं, इसलिये चिह्नमात्र ही उनका स्वरूप है। भगवान् शिवका कारण-स्वरूप निराकार है, अतः शिवलिङ्ग भी किसी विशेष आकृतिसे रहित है, वैसे ही जैसे शालग्राम-शिला है। साथ ही सारे जगत्के कर्ता, विधाता, उत्पत्तिस्थल भी भगवान् शिव ही हैं। देवीपीठ तथा शिवलिङ्गसे इस सिद्धान्तकी भी सूचना होती है। लिङ्गका एक अर्थ है 'कारण'। भगवान् शिव समस्त जगत्के कारण हैं; फलतः कारणवाचक लिङ्गके नामसे उनका पूजन होता है। अतः इसमें अश्लीलताकी कल्पना किसी भी दृष्टिसे कदापि नहीं करनी चाहिये और भगवान् शंकरकी भक्तिभावपूर्वक शास्त्रानुमोदित पूजा-अर्चा करनी चाहिये।

शिव-निर्माल्य

भगवान् शंकरपर चढ़ायी हुई वस्तु ग्रहण करनी चाहिये या नहीं, इस सम्बन्धमें तरह-तरहकी बातें कही जाती हैं। सिद्धान्त यह है कि जिन पुरुषोंने शिव-मन्त्रकी दीक्षा ली है, उनके लिये तो शिवजीका नैवेद्य-प्रसाद भक्षण करनेकी विधि है, परंतु जिनके अन्य देवताकी दीक्षा है, उनके लिये निषेध है। शास्त्रमें कहा गया है कि शिवजीपर जो निर्माल्य या नैवेद्य चढ़ता है, वह चण्डेश्वरका भाग है, उसका ग्रहण किसीको नहीं करना चाहिये—**'चण्डाधिकारो यत्रास्ति तद्भोक्तव्यं न मानवैः'** (शिवपुराण, विद्येश्वरसंहिता २२ । १६) अर्थात् जहाँ चण्डका अधिकार है, वहाँ मनुष्यको शिव-नैवेद्यका भक्षण नहीं करना चाहिये। परंतु वहीं इसी श्लोकमें यह भी कहा गया है कि जिसमें चण्डका अधिकार नहीं है, उसका भक्तिपूर्वक भक्षण करना चाहिये—

'चण्डाधिकारो नो यत्र भोक्तव्यं तच्च भक्तितः।'

शास्त्रोंमें यह निर्णय किया गया है कि भूमि, वस्त्र, भूषण, सोना, चाँदी, ताँवा आदिको छोड़कर श्रीशिवजीपर चढ़े हुए पुष्प, फल, मिष्टान्न, जल—इन सबको, जो-जो शिव-दीक्षासे रहित है, उनको ग्रहण नहीं करना चाहिये। पर ये भी यदि शालग्रामजीसे स्पर्श हो जायँ तो ग्रहणके योग्य हो जाते हैं। इसके अतिरिक्त जहाँ शालग्राम-शिलाकी उत्पत्ति होती है—वहाँ उत्पन्न लिङ्गमें, पारे, पाषाण, चाँदी या सोनेसे बने हुए लिङ्गमें, देवता तथा सिद्धोंके द्वारा स्थापित लिङ्गमें, स्फटिक या रत्ननिर्मित लिङ्गमें, केसरसे बने हुए लिङ्गमें तथा सोमनाथ, मल्लिकार्जुन, महाकाल, परमेश्वर, केदारनाथ, भीमशंकर, विश्वनाथ, त्र्यम्बक, वैद्यनाथ, नागेश, रामेश्वर और घुश्मेश्वर—इन बारह ज्योतिर्लिङ्गोंपर चढ़ा हुआ शिव-नैवेद्य ग्रहण करने योग्य होता है। जिनकी शैवी दीक्षा नहीं है, वे भी उपर्युक्त लिङ्गोंके नैवेद्यको ग्रहण कर सकते हैं, क्योंकि इन लिङ्गोंके निर्माल्यमें चण्डका अधिकार नहीं है।

सारांश यह कि जिनको शिव-दीक्षा नहीं है, परंतु जो शिवजीके भक्त हैं, उनके लिये पार्थिव लिङ्गको छोड़कर सभी शिवलिङ्गोंपर निवेदित की हुई वस्तुओंको तथा शिवजीकी प्रतिमापर चढ़ाये हुए प्रसादको ग्रहण करनेका अधिकार है और जो वस्तुएँ शिवलिङ्ग-का स्पर्श नहीं करतीं, अलग रखकर शिवजीको निवेदन की जाती हैं, वे अत्यन्त पवित्र हैं, उन्हें भी ग्रहण करनेका अधिकार है। शिवजीकी पूजामें नर-नारी तथा द्विज-द्विजेतर सभीका अधिकार है, उन्हें केवल वैदिक पूजा नहीं करनी चाहिये।*

---

* पुराणप्रसिद्ध शिवलिङ्ग तथा प्राचीन शिवलिङ्गके पूजनका अधिकार सभी वर्णके स्त्री-पुरुष—सभीको समान है। 'शिवसर्वस्व'में कहा गया है कि—

यस्तु पूजयते लिङ्गं देवादिं मां जगत्पतिम्। ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यः शूद्रो वा मत्परायणः॥
तस्य प्रीतः प्रदास्यामि शुभाँल्लोकाननुत्तमान्।

स्कन्दपुराणमें आता है—

नमोऽन्तेन शिवेनैव स्त्रीणां पूजा विधीयते।

अर्थात्—स्त्री 'शिवाय नमः' इस मन्त्रसे ही पूजा करे। हाँ, स्त्री-द्विजेतरोंके अतिरिक्त अन्य किसीके द्वारा कोई नया शिवलिङ्ग स्थापित किया गया हो तो उसकी पूजाका अधिकार स्त्री और द्विजेतरको नहीं है।

वाल्मीकिकी सीता

(लेखक—पं० श्रीशिवनाथजी दूबे, एम्० काम०, साहित्यरत्न)

महर्षि वाल्मीकिने अपनी रामायणमें सीताका जो आदर्श चरित्र प्रस्तुत किया है, वह नारी-जातिके लिये अनुकरणीय है । भगवती सीता नारियोंके लिये परम आदर्श, संसारकी स्त्रियोंमें अग्रगण्य तथा सतियोंमें शिरोमणि हैं । वे अपने निष्कलङ्क चरित्रसे मानव-समाजको पवित्रता प्रदान करनेवाली हैं । आपमें लोकोत्तर पातिव्रत्य, शील, करुणा, अनुपम क्षमा, वत्सलता, सहज-सौन्दर्य, सदाचार, अदम्य साहस, त्याग, संयम-नियम, चरित्रकी दृढ़ता इत्यादि गुण वर्तमान हैं । एक नारीपात्रमें इतने उत्तम गुणोंका समावेश नारी-जगत्में सीताकी अद्वितीयताका यथेष्ट प्रमाण है । आपका आदर्श विश्वमें नारी-जगत्के इतिहासमें सदैव अमर रहेगा ।

सीता शब्दका अर्थ 'हलका फाल' भी होता है । हलके फालसे उत्पन्न होनेके कारण ही इनका नाम 'सीता' पड़ा । नामकरणके सम्बन्धमें आदिकवि वाल्मीकिकी ही उक्ति है—

उत्पन्ना मैथिलकुले जनकस्य महात्मनः ।
सीतोत्पन्ना तु सीतेति मानुषैः पुनरुच्यते ॥
(वा० रा० ७ । १७ । ४४)

'सीता महात्मा जनकके मैथिलवंशमें हलके फाल 'सीता'से उत्पन्न हुई थी, इससे लोग इन्हें 'सीता' कहते हैं ।'

निखिल भुवन-पावन भगवान् राम एवं महाशक्ति सीता एक ही परात्पर ब्रह्मके दो विभाग हैं । राक्षसोंके संहारके लिये ये दोनों दम्पतिके रूपमें प्रकट हुए । **'पतिः पत्नी चाभवताम् ।'** जैसे शक्तिमान् अपनी शक्तिसे, शरीर अपनी छायासे, चन्द्रमा अपनी चाँदनीसे, सूर्य अपनी प्रभासे कभी पृथक् नहीं हो सकता, वैसे ही श्रीरामका अभेद्य सम्बन्ध सती सीतासे है । शक्ति-सम्पन्ना सीताकी उक्ति है कि—

अनन्या राघवेणाहं भास्करेण यथा प्रभा ।
(वा० रा० ५ । २१ । १५)

'जैसे सूर्यकी प्रभा सूर्यसे अलग नहीं होती, वैसे ही मैं श्रीराघवेन्द्रसे अभिन्न हूँ ।'

श्रीराघवेन्द्रने भी सीताकी अपनेसे अभिन्नताको स्पष्ट किया है । श्रीराम कहते हैं—'सीताका मेरे साथ उसी प्रकार अविच्छेद्य सम्बन्ध है, जिस प्रकार सूर्यका अपनी प्रभासे होता है ।'

अनन्या हि मया सीता भास्करस्य प्रभा यथा ।
(वा० रा० ६ । ११८ । १९)

भगवती सीता भी कहती हैं—'जैसे चन्द्रमासे उसकी चाँदनी पृथक् होकर नहीं रह सकती, उसी प्रकार मैं आपके साथ नित्य-निवासके धर्मसे विचलित न हो सकूँगी ।'

धर्माद् विचलितुं नाहमलं चन्द्रादिव प्रभा ।
(वा० रा० २ । ३९ । २८)

मुनिवर वाल्मीकिने जनकदुलारी जानकीके लोकोत्तर पातिव्रत्यका मार्मिक चित्रण किया है । अपने सर्वस्व पतिदेव श्रीरामको वनगमनके लिये उद्यत देखकर सीताने तत्काल अपने परम कर्तव्यका निर्णय लिया और श्रीरामको सम्बोधित करते हुए वे कहने लगीं—

आर्यपुत्र पिता माता भ्राता पुत्रस्तथा स्नुषा ।
स्वानि पुण्यानि भुञ्जानाः स्वं स्वं भाग्यमुपासते ॥
भर्तुर्भाग्यं तु नार्येका प्राप्नोति पुरुषर्षभ ।
अतश्चैवाहमादिष्टा वने वस्तव्यमित्यपि ॥
(वा० रा० २ । २७ । ४-५)

'हे आर्यपुत्र ! पिता, माता, भाई, पुत्र तथा पुत्र-वधू—ये सभी अपने-अपने कर्मानुसार सुख-दुःखका भोग करते हैं । हे पुरुषश्रेष्ठ ! एकमात्र धर्मपत्नी ही पतिके कर्म-फलोंकी भागिनी होती है । इसलिये आपके लिये वनवासकी जो आज्ञा हुई है, वह मेरे लिये भी हुई । अतएव मैं भी वनमें निवास करूँगी ।'

पति-परायणा सीता अपने पतिदेवके कर्तव्यको भलीभाँति समझती हैं और पतिकर्ममें हर प्रकारसे सहायक बनना चाहती हैं । सीताने श्रीरामसे स्पष्ट कह दिया कि 'वनमें मैं आपको किसी भी प्रकारसे दुःखी न करूँगी ।' आदि कविके शब्द हैं—

फलमूलाशना नित्यं भविष्यामि न संशयः ।
न ते दुःखं करिष्यामि निवसन्ती त्वया सदा ॥
(वा० रा० २ । २७ । १६)

'मैं सदैव फल-मूल खाकर रहूँगी । आपके साथ वनमें रहकर आपको किसी भी बातके लिये दुःखी न करूँगी ।'

वाल्मीकिकी सीता अपने पति श्रीरामके लिये भार या दुःखदायिनी नहीं बनना चाहती हैं । पतिव्रता अपने पतिके दुःखोंको घटानेमें समर्थ होती है, वह पतिका मन बहलाती है । सीता पति-वियोगमें अपनी मृत्यु निश्चित समझती हैं । वे पतिसे पृथक् नहीं रह सकतीं । सीता श्रीरामसे पुनः प्रेमाग्रह करती हैं—

अनन्यभावामनुरक्तचेतसं
त्वया वियुक्तां मरणाय निश्चिताम् ।
नयस्व मां साधु कुरुष्व याचनां
नातो मया ते गुरुता भविष्यति ॥
(वा० रा० २ । २७ । २३)

'आपमें ही मेरा हृदय अनन्य-भावसे अनुरक्त है—आपके अतिरिक्त और कहीं भी मेरा चित्त आसक्त नहीं है । आपके वियोगमें मेरी मृत्यु निश्चित है। मुझे साथ ले चलिये, मेरी प्रार्थना सफल कीजिये । मुझे ले चलनेसे आपको कोई भार न होगा ।'

वन-गमनके समय ही जनकनन्दिनीने अपने पतिसे यह भी निवेदन किया था कि—

शुश्रूषमाणा ते नित्यं नियता ब्रह्मचारिणी ।
(वा० रा० २ । २७ । १३)

'मैं नियमपूर्वक ब्रह्मचारिणी रहकर आपकी सेवा करूँगी ।'

अपने पवित्र प्रेमसे अपने पति श्रीरामके हृदयको जीतकर सीताने उनके साथ वनगमन किया । वनवास-कालमें पति-सेवामें लीन रहनेके कारण अयोध्याके राजोचित सुख, वैभव इत्यादि उन्हें भूल गये । सीताने सती-अनसूयासे यह स्पष्ट कहा था कि 'स्त्रीके लिये इस लोक एवं परलोकमें पति ही गति है । पिता, पुत्र, माता, सखियाँ तथा अपनी देहसे भी सच्चे श्रेयकी प्राप्ति नहीं हो सकती ।'

न पिता नात्मजो वात्मा न माता न सखीजनः ।
इह प्रेत्य च नारीणां पतिरेको गतिः सदा ॥
(वा० रा० २ । २७ । ६)

लंकामें भक्तराज श्रीहनुमान्‌की पूँछमें आग लगनेके समाचारसे जब सीताजी अवगत हुईं तो उन्हें हार्दिक दुःख हुआ । ऐसी दुःखद परिस्थितिमें सीताजी अग्निदेवसे प्रार्थना करती हुई कहती हैं—

यद्यस्ति पतिशुश्रूषा यद्यस्ति चरितं तपः ।
यदि वा त्वेकपत्नीत्वं शीतो भव हनूमतः ॥
(वा० रा० ५ । ५३ । २७)

'अग्निदेव ! यदि मैंने पतिकी सेवा की है, यदि मैंने तपस्या की है, यदि मैं एक श्रीरामकी ही पत्नी रही हूँ तो तुम पवनकुमार श्रीहनुमान्‌के लिये शीतल हो जाओ ।'

सती सीताकी प्रार्थनासे प्रभावित होकर अग्निदेव समीरात्मजके लिये अत्यन्त शीतल हो गये । यह था महासती सीताका प्रभावशाली अद्वितीय सतीत्व ।

लंका-विजयके पश्चात् लौकिक मर्यादाको दृष्टिगत रखते हुए सीताकी अग्नि-परीक्षा होने लगी । उस समय भी सीताने प्रज्वलित अग्निसे निवेदन किया, जो उनकी पति-परायणा पत्नी होनेका द्योतक है । सीताजी अग्निदेवसे प्रार्थना करती हुई कहती हैं—

यथा मे हृदयं नित्यं नापसर्पति राघवात् ।
तथा लोकस्य साक्षी मां सर्वतः पातु पावकः ॥
(वा० रा० ६ । ११६ । २५)

'हे लोकसाक्षी पावक ! यदि पति श्रीरामसे मेरा मन कभी पृथक् न हुआ हो तो आप सभी प्रकारसे मेरी रक्षा करें ।'

इस समय सीताके पातिव्रत्यकी साक्षी अग्निदेवने दी थी । श्रीरामको सम्बोधित करते हुए अग्निदेवने कहा—'हे राम ! सीताके भाव शुद्ध हैं । यह निष्पाप है, तुम इसे स्वीकार करो । अब इससे कुछ भी मत कहना—यह मेरी आज्ञा है'—

विशुद्धभावां निष्पापां प्रतिगृह्णीष्व मैथिलीम् ।
न किंचिदभिधातव्या अहमाज्ञापयामि ते ॥
(वा० रा० ६ । ११८ । १०)

विदेहपुत्री सीता साक्षात् लक्ष्मी थीं । सीताके अग्निप्रवेशके पश्चात् भगवान् रामकी स्तुति करते हुए सृष्टिकर्ता ब्रह्मा कहते हैं—

सीता लक्ष्मीर्भवान् विष्णुर्देवः कृष्णः प्रजापतिः ॥
(वा० रा० ६ । ११७ । २७)

'सीता लक्ष्मी हैं, आप विष्णु हैं, आप प्रजापति कृष्ण हैं ।'

विदेहतनया सीतामें निर्भीकता कूट-कूटकर भरी थी । निर्भीकताके सम्बन्धमें यह प्रसंग उल्लेखनीय है कि जिस राक्षसराज रावणका नाममात्र श्रवण कर लेनेपर बड़े-बड़े शक्तिशाली देवता भी काँप जाते थे, उसी लंकेशको कठोर और निर्भीक उत्तर देते हुए सती सीताने कहा था—

त्वं पुनर्जम्बुकः सिंहीं मामिहेच्छसि दुर्लभाम् ।
नाहं शक्या त्वया स्प्रष्टुमादित्यस्य प्रभा यथा ॥
यो रामस्य प्रियां भार्यां प्रधर्षयितुमिच्छसि ।
अग्निं प्रज्वलितं दृष्ट्वा वस्त्रेणाहर्तुमिच्छसि ॥
कल्याणवृत्तां यो भार्यां रामस्याहर्तुमिच्छसि ।
अयोमुखानां शूलानामग्रे चरितुमिच्छसि ॥
(वा० रा० ३ । ४७ । ३७, ४३-४४)

'रावण ! तू सियार मुझ दुर्लभ सिंहनीकी इच्छा करता है ? जैसे कोई सूर्यकी प्रभाका स्पर्श नहीं कर सकता, वैसे ही तू मेरा स्पर्श भी नहीं कर सकता । यदि तू श्रीरामकी प्रिय पत्नीपर बलात्कार करना चाहता है, तो निश्चय ही तू प्रज्वलित अग्निको देखकर भी उसे कपड़ेमें बाँधकर ले जाना चाहता है । श्रीरामकी सच्चरित्रा पत्नीको जो अपहरित करना चाहता है, वह लोहेके तीक्ष्ण शूलोंपर विचरण करना चाहता है ।'

अपने पति श्रीराम तथा देवर लक्ष्मण और अन्य स्वजनोंसे अत्यन्त दूर रहने एवं क्रूर, भीषण राक्षसियोंद्वारा भयभीत किये जाने, प्रलोभन दिये जाने और सताये जानेपर भी निर्भीक सीता महाशक्तिशाली रावणसे तनिक भी भयभीत न हुईं, बल्कि उन्होंने अपने तेजसे लंकाधिपति राक्षसराज रावणको हतप्रभ कर दिया । लंकेशकी साम, दाम, दण्ड और भेदकी नीति असफल रही और उसके दम्भपूर्ण वीरत्वने सीताके सामने घुटने टेक दिये । रावणके धन और ऐश्वर्यके लोभमें न पड़नेके लिये सीताने आगे कहा—

न मां प्रार्थयितुं युक्तस्त्वं सिद्धिमिव पापकृत् ।
अकार्यं न मया कार्यमेकपत्न्या विगर्हितम् ॥
शक्या लोभयितुं नाहमैश्वर्येण धनेन वा ।
अनन्या राघवेणाहं भास्करेण यथा प्रभा ॥
(वा० रा० ५ । २१ । ४, १५)

'रावण ! जैसे पापी सिद्धिकी प्रार्थना (याचना) नहीं कर सकता, वैसे ही तू मुझसे प्रार्थना (याचना) करनेके योग्य नहीं है । मैं पतिव्रता हूँ, इसलिये

निन्दित अकर्तव्य कार्य मैं नहीं कर सकती। जैसे प्रभा सूर्यकी सहचरी है, वैसे ही मैं श्रीरामचन्द्रकी अनन्यपत्नी और अनुचरी हूँ। मैं धन और ऐश्वर्यके लोभमें नहीं आ सकती।'

अत्यन्त दयनीय, भयावनी और प्रतिकूल परिस्थितियोंमें भी सीताकी ये उक्तियाँ उनकी निर्भीकताका पूर्ण परिचय देती हैं। यह था सीताके सतीत्वका तेज।

क्षमाका गम्भीर समुद्र सीताके विशाल हृदयमें विद्यमान था। इसका एक उदाहरण अवलोकनीय है। इन्द्रके पुत्र जयन्तने भगवान् रामकी शक्ति-परीक्षा लेनी चाही। तदर्थ वह वनमें गया। जब राम निद्रावस्थामें थे, तब उसने सीताके वक्षःस्थलमें चोंच मारी। रक्तकी बूँदें टपकने लगीं। रामकी निद्रा भंग हुई और वे क्रोधातुर पँचमुँहेनागके सदृश फुंकार करते हुए सीतासे बोले—

केन ते नागनासोरु विक्षतं वै स्तनान्तरम्।
कः क्रीडति सरोषेण पञ्चवक्त्रेण भोगिना॥
(वा० रा० ५। ३८। २५)

'हाथीके शुण्डके समान जंघोंवाली सीते! तुम्हारे वक्षःस्थलको किसने क्षत-विक्षत कर डाला? बताओ, पाँच मुखवाले क्रुद्ध सर्पके साथ कौन खिलवाड़ कर रहा है?'

भगवान् रामद्वारा अपराधीका पता पूछनेपर भी प्राणिमात्रको पुत्र समझनेवाली सीताने उसका पता नहीं बताया और मौन रह गयीं। क्रोधातुर पतिको अक्षम्य अपराधीका पता नहीं दिया। किंतु वह छद्मवेशी दुर्बुद्धि जयन्त तो काकरूप धारणकर सर्वशक्तिसम्पन्न श्रीरामकी शक्ति-परीक्षाके लिये ही आया था। फिर रक्त-रञ्जित तीक्ष्ण नखोंसे युक्त वह श्रीरामके दृष्टि-पथमें आ ही गया। श्रीरामने उसपर ब्रह्मास्त्र छोड़ा। काक सभी लोकोंमें घूमता हुआ शरण चाहने लगा। परंतु उसे त्रैलोक्यमें शरण नहीं मिली। अन्ततोगत्वा उसे श्रीरामकी ही शरणमें आना पड़ा। महर्षि वाल्मीकिके शब्द हैं—

त्रीँल्लोकान् सम्परिक्रम्य तमेव शरणं गतः।
(वाल्मी० ५। ३८। ३२)

उस महान् अपराधीको भी शरणमें आया हुआ देखकर माता सीताका हृदय करुणार्द्र हो उठा। क्षमाका गम्भीर हृत्समुद्र हिलोरें लेने लगा। क्षमामूर्ति भगवती सीताने उसे शरणागत होनेपर क्षमा प्रदान किया और अपने सर्वस्व श्रीरामसे उसे प्राणदान दिलवाया।

सीताके चरित्रकी दृढ़तामें हमें हिमालयकी अडिगता दृष्टिगोचर होती है। लंकाकी अशोकवाटिकाकी जिस कठोर परिस्थितिका आपने सामना किया था, उससे भयावनी एवं गम्भीर परिस्थिति और क्या हो सकती है? सीताजी मृत्युका आलिङ्गन करनेको तत्पर हो गयी थीं; किंतु उन्होंने भयंकर-से-भयंकर परिस्थितियोंके सामने अपना सिर नहीं झुकाया, कथमपि विचलित न हुईं। सीताजीने निर्दयी राक्षसियोंसे कहा—

चरणेनापि सव्येन न स्पृशेयं निशाचरम्।
रावणं किं पुनरहं कामयेयं विगर्हितम्॥
छिन्ना भिन्ना प्रभिन्ना वा दीप्ता वाग्नौ प्रदीपिता।
रावणं नोपतिष्ठेयं किं प्रलापेन वश्चिरम्॥
(वा० रा० ५। २६। ८, १०)

'इस राक्षस रावणको चाहनेकी तो बात ही क्या है, मैं इसे अपने बायें पैरसे भी नहीं छू सकती। मुझे भालेसे छेद डालो, तलवारसे काट डालो, कुल्हाड़ीसे टुकड़े-टुकड़े कर डालो, पका डालो या जला डालो, किंतु मैं रावणको स्वीकार नहीं कर सकती, तुमलोग व्यर्थ बक-वास मत करो।'

सीताका सम्पूर्ण जीवन परीक्षा, त्याग, तपस्या, सेवा एवं संयमसे पूर्ण था। आप परिस्थितियोंकी अनुगामिनी नहीं रहीं, बल्कि स्वामिनी बनकर ही रहीं। आद्योपान्त सीताका जीवन-चरित अनुकरणीय एवं स्तुत्य है। यह हमारे मातृ-जगत्‌के लिये गौरवकी बात है।

सीताको लोक-शिक्षण तथा लोक-कल्याणके लिये अनेक अग्नि-परीक्षाओंसे तपना पड़ा था। लौकिक मर्यादा एवं सीताकी पवित्रताको दृष्टिगत रखते हुए ही भगवान् रामने सीताकी अग्नि-परीक्षा की थी। क्योंकि

यह बहुत दिनोंतक रावणके घरमें रह चुकी थी। जब प्रज्वलित अग्निमें सीताने प्रवेश किया तो अग्निदेव शीतल हो गये और भगवान् रामके आगे सीताको सादर समर्पित करते हुए बोले—

एषा ते राम वैदेही पापमस्यां न विद्यते।
नैव वाचा न मनसा नैव बुद्ध्या न चक्षुषा॥
(वा० रा० ६ । ११८ । ६)

'राम! यह सीता आपकी है। इसमें किसी भी प्रकारका पाप नहीं है। वचनसे, मनसे, बुद्धिसे और नेत्रोंसे भी इसने कभी अपना चरित्र दूषित नहीं किया है।'

आज भी यह परम्परा है कि गर्भवती स्त्रियोंसे पूछकर उनकी इच्छाएँ पूरी की जाती हैं। श्रीरामके पूछनेपर सीताने भी अपनी इच्छा व्यक्त की थी—

तपोवनानि पुण्यानि द्रष्टुमिच्छामि राघव।
गङ्गातीरोपविष्टानामृषीणामुग्रतेजसाम्॥
(वा० रा० ७ । ४२ । ३३)

'राघव! गङ्गातटपर रहकर कठिन तपस्या करनेवाले ऋषियोंके तपोवनको देखना चाहती हूँ।'

प्रजावत्सल श्रीरामको गर्भवती सीताकी इच्छा-पूर्तिके लिये एवं अयोध्याराज्यके गुप्तचर विभागसे प्राप्त इस सूचनाके कि 'सीताके विषयमें लोकापवाद फैल रहा है', सूच्यकलंकके परिहारार्थ सीताके परित्यागका निश्चय करना पड़ा। श्रीरामने गम्भीरतापूर्वक सोचा कि ऐसी परिस्थितिमें राजधर्मपालनार्थ सीता-जैसी पतिव्रता नारीका त्याग सम्प्रति नितान्त आवश्यक है। लोक-लोचन श्रीरामने हृदयको वज्रसम कठोर बनाकर अपने अनुज लक्ष्मणको आदेश दिया कि ऋषियोंका तपोवन दिखानेके बहाने सीताको वाल्मीकिके आश्रमके पास छोड़ आओ। प्रभुका आदेश सुनकर लक्ष्मणपर तो मानो वज्रपात ही हो गया। उन्हें राजाज्ञाका पालन करना पड़ा। महर्षि वाल्मीकिके आश्रमके निकट पहुँचनेपर लक्ष्मणको रोते देख सीताको विदित हुआ कि मिथ्या लोकापवादके भयसे मुझे निष्पाप जानते हुए भी भगवान् श्रीरामने मेरा त्याग किया है। करुण विलापके पश्चात् लक्ष्मणके द्वारा श्रीरामको सीताने जो संदेश भेजा (वा० रा० ४ । १२ । ८) उसकी एक झाँकी देखिये—

'राघव! आप जानते हैं कि सीता सर्वथा विशुद्ध है, आपमें भक्ति रखनेवाली और सदा आपका हित चाहनेवाली है। वीर! अपनी अपकीर्तिसे डरकर ही आपने मेरा परित्याग किया है। आप मेरे आश्रय हैं, इसलिये आपकी जो निन्दा और अपवाद हो रहा है, उसको मैं दूर करूँगी। आप मेरे निन्दक पुरवासियोंसे भी अपने भाइयों-जैसा व्यवहार करें। यह परम धर्म है। इससे उत्तम कीर्ति होती है। हे राजन्! पुरवासियोंके प्रति धर्मानुकूल आचरणसे जो प्राप्त होता है, वह परमार्थ है। नर-शार्दूल! मैं अपने शरीरके विषयमें कुछ भी नहीं सोचती। मेरे विषयमें पुरवासियोंका जैसा अपवाद है, वह जैसा-का-तैसा बना रहे, इसकी मुझे कोई चिन्ता नहीं; क्योंकि पति ही स्त्रियोंका देवता है, गुरु है, बन्धु है। अतएव प्राणोंसे भी पतिका प्रिय करना चाहिये। शरीरके अपवादका मुझे कष्ट नहीं है, त्यागका दुःख नहीं है; क्योंकि इससे आपके सुयशकी रक्षा होती है।'

सीताको इस बातसे पूर्ण संतोष था कि मेरे पति श्रीराम प्रजारञ्जन, धर्म-पालन एवं मर्यादाकी रक्षाके लिये अपनी प्रिय वस्तुका परित्याग करनेमें भी सक्षम हैं। पत्नीके आनन्दकी उस समय कोई सीमा नहीं होती जब वह कोटि-कोटि कण्ठोंसे अपने पतिकी प्रशंसा सुनती है।

मुनिवर वाल्मीकिने सीताको ऋषि-पत्नियोंके साथ अपने आश्रममें रक्खा। आश्रममें ही सीताने लव और कुश—दो राजकुमारोंको जन्म दिया। अश्वमेध-यज्ञके

समय महर्षि वाल्मीकि स्वयं सीताको साथ लेकर यज्ञशालामें उपस्थित हुए और जनसमूहके बीचमें सीताकी शुद्धताके विषयमें (वा० रा० ७ । ९६ । १५, १९, २२-२३) श्रीराघवेन्द्रको सम्बोधित करते हुए बोले—

'दशरथ-नन्दन राम ! यह सीता धर्मचारिणी और उत्तम व्रतनिष्ठ है । लोकापवादके कारण मेरे आश्रमके पास त्यागी गयी थी । हे राम ! लोकापवादसे भीत तुमको सीता अपनी पवित्रताका विश्वास दिलायेगी । तुम उसे आज्ञा दो । सीताके ये दोनों यमज पुत्र हैं । मैं प्रचेताका दसवाँ पुत्र हूँ । मैं तुमसे यह सत्य कहता हूँ कि ये दोनों तुम्हारे ही पुत्र हैं । मुझे अपने असत्य-भाषणकी स्मृति नहीं है । मैं कहता हूँ, ये दोनों तुम्हारे ही पुत्र हैं । कई हजार वर्षोंतक मैंने तपस्या की है । यदि इस सीतामें पाप हो तो उस तपस्याका फल मुझे न मिले । यह शुद्धाचारिणी, पापशून्या और पतिको देवता माननेवाली है । लोक-निन्दासे डरे हुए तुमको यह विश्वास दिलायेगी । हे राजकुमार ! मैंने दिव्यदृष्टिसे यह देख लिया है कि सीता पवित्र है । तुम भी इसे शुद्ध जानते हो, किंतु लोकापवादसे व्याकुल होकर तुमने अपनी प्रियतमा पत्नीका त्याग किया है ।'

महर्षि वाल्मीकिकी बातोंको सुनकर लोकलोचन श्रीरामने सीताकी ओर देखा और करबद्ध होकर उपस्थित जन-समूह, राजाओं तथा ब्रह्मर्षियोंके बीचमें वाल्मीकिको सम्बोधित करते हुए बोले—

'मुनिवर ! आपका कथन सत्य है । मैं भी सीताको शुद्ध जानता था, परंतु लोक-निन्दाके भयसे मैंने इसका त्याग किया था । आप मेरे इस महान् अपराधको क्षमा करें ।'

सीताके शपथका समय आ गया तो सभी देवता वहाँपर उपस्थित हुए । एकत्र देवगणोंके सम्मुख विनम्र-मुखी काषाय-वस्त्रधारिणी सीताने पृथ्वीसे निवेदन किया—

यथाहं राघवादन्यं मनसापि न चिन्तये ।
तथा मे माधवी देवी विवरं दातुमर्हति ॥
मनसा कर्मणा वाचा यथा रामं समर्चये ।
तथा मे माधवी देवी विवरं दातुमर्हति ॥
यथैतत् सत्यमुक्तं मे वेद्मि रामात् परं न च ।
तथा मे माधवी देवी विवरं दातुमर्हति ॥
(वा० रा० ७ । ९७ । १४—१६)

'यदि मैं श्रीरामचन्द्रजीके अतिरिक्त किसी दूसरेका मनसे भी चिन्तन नहीं करती, तो पृथ्वी देवी मुझे स्थान दें । यदि मैं मन, कर्म और वाणीसे श्रीरामचन्द्रकी ही आराधना करती हूँ तो पृथ्वी देवी मुझे स्थान दें । मेरा यह कथन यदि सत्य हो कि श्रीरामके अतिरिक्त मैं किसीको नहीं जानती तो पृथ्वी देवी मुझे स्थान दें ।'

देवी सीताके शपथ करते ही अकस्मात् पृथ्वी फट गयी ! नागदेवके सिरोंपर एक सुन्दर सिंहासनपर आसीन पृथ्वी माता प्रकट हुई और उन्होंने सीताका अभिनन्दन किया । पृथ्वी माताने सीताको दिव्य सिंहासनपर बैठा लिया, आकाशसे पुष्पवर्षा होने लगी, देववृन्द स्तुति करने लगे, दर्शक आश्चर्यचकित हो गये । देखते-ही-देखते सीतासहित सिंहासन पातालमें प्रवेश कर गया और धन्य-धन्यकी ध्वनिसे दसों दिशाएँ गूँज उठीं । इस प्रकार सीताका सतीत्व महिमा-मण्डित हो गया ।

श्रीरामके रामत्वकी पूर्णता-हेतु तथा स्वधर्म-पालनार्थ सीताने महान् कष्ट उठाया । इसी कारण रामके चरितकी अपेक्षा सीताका चरित अधिक महत्त्वपूर्ण है । श्रीजानकी-चरितके समयसे महर्षि वाल्मीकिका काव्य सीता-चरित नामसे भी विख्यात है—**'सीतायाश्चरितं महत् ।'** (वा० रा० मा० १ । ४ । १५) सीताका परमपावन चरित्र वाल्मीकीय रामायणके सभी चरित्रोंमें सर्वोच्च है तथा विश्वको युग-युगोंतक प्रेरणा देनेवाला आदर्श नारी-चरित्र है ।

गोस्वामी तुलसीदासजी और सरस श्रावण मास

(लेखक—डॉ० श्रीशुकदेवरायजी, एम्० ए०, पी-एच्० डी०, साहित्यरत्न)

प्रस्तावना

सावन मेघका महीना है—वर्षाऋतुका दूसरा महीना। यह जितना ही सरस है, उतना ही सुहावना। मेघदूतमें—**'मेघालोके भवति सुखिनः'** (पूर्वमेघ, ३) कहकर महाकवि कालिदासने मेघके लोकरञ्जक स्वरूपका दिग्दर्शन कराया है। इसके अतिरिक्त ऋतु-संहारमें उन्होंने स्वतन्त्ररूपसे श्रावण मासका विस्तारसे चित्रण किया है। संस्कृतके अन्य बीसों कवियोंने भी इसका विस्तारसे वर्णन किया है। **'सावन घन घमंड जनु ठयऊ'** और **'बारि धारा उलहै जलद ज्यों न सावनों'** (कवितावली ५। ८। २) में गोस्वामी तुलसीदासजीने सावनकी सरसताकी अनुभूति भलीभाँति की है। सच पूछा जाय तो तुलसीदासजीको जन्म देनेवाला सावन कभीका बरसकर चला गया, परंतु कविने जिस सावनको काव्यरूप प्रदान किया, वह निरन्तर आजतक बरस रहा है और बरसता रहेगा। श्रावणने तो केवल धरतीको सरसाया था और यह सारे विश्वके सहृदयों, काव्य-रसिकों, संतों एवं रामानुरागियोंको रसाप्लावित कर रहा है।

सावनका तुलसीदासजीसे बड़ा ही घनिष्ठ सम्बन्ध है। श्रावण मासमें तुलसीदासजीने जन्म-ग्रहण किया था और इसीमें वे काशीमें परमधाम गये। **'श्रावण शुक्ला सप्तमी तुलसी धर्यो सरीर'** तथा **'श्रावण कृष्णा तीज शनि तुलसी तज्यो सरीर'** दोनों प्रसिद्ध हैं। तुलसी-जयन्ती इसी मासमें होती है और उसका आयोजन उनकी जन्मतिथिपर श्रावण शुक्ला सप्तमीको होता है। यह चिन्त्य संयोगकी बात है कि बालक तुलसी('रामबोला')को मातृहीन करनेवाला महीना भी सावन ही है। उनके जन्मके पाँचवें दिन उनकी माता चल बसी थीं। सावन जगत्का पोषक है। अतः इसने उस मातृहीन शिशुको अपने ही कालमें चुनियाँ नामकी दासीको सौंप रखा था; जिसकी संरक्षतामें तुलसीदासजी जीवन-धारण करनेमें समर्थ हो सके थे। तुलसीदासजीको गोस्वामी बनानेका श्रेय भी इसी सावनको है। गोसाइँचरित आदि इनके जीवन-ग्रन्थोंमें इसका स्पष्ट उल्लेख है कि श्रावणी पूर्णिमाके दिन भाईको राखी बाँधनेके लिये उनकी प्यारी पत्नी मायके चली गयी थी और उसके पीछे आधी रातमें भरी नदीको पारकर वे ससुराल चले गये। वहाँ पत्नीकी भर्त्सना सुनकर उन्हें वैराग्य उत्पन्न हो गया और वे घर छोड़कर चले गये। अतः तुलसीदासको रागसे विरागमें परिणत करनेका श्रेय अप्रत्यक्षरूपसे इसी सावनको है। इस प्रकार सावन तुलसीदासजीके जन्मका, पोषणका, रागका तथा विरागका कारण है। उनके लिये यह भुक्ति और मुक्ति दोनोंका दायी है। सावनके जीवनमें बालक तुलसीदासको मातृहीन बनानेका जो कलङ्क है, उसकी दूसरी सम्भावना भी है। मानव-जीवनमें दुःख एक ऐसा तत्त्व है, जो सम्पूर्ण जीवनको महानताके साँचेमें ढाल देनेकी क्षमता रखता है। यदि तुलसीदासजीको **'मातु पिता जग जाइ तज्यो, बिधि हूँ न लिखी कुछ भाल भलाई'** की स्थितिसे गुजरना नहीं पड़ता, **'रोटीको ललात, बिललात द्वार द्वार फिरै'** की अवस्था नहीं आती तो सम्भव है कि वे उस महत्ताको प्राप्त करनेमें समर्थ नहीं हो पाते, जिसके लिये आज संत और कवि-समाज दोनोंको गौरव है। अधिक सम्भव है कि तुलसीदासको मातृहीन करनेकी, सावनकी इस योजनाके पीछे यही रहस्य छिपा हो। दोष और गुण चाहे जो हो, पर इतना मुक्तकण्ठसे स्वीकार किया जा सकता है कि इस सावनने तुलसीके रूपमें, उनके काव्यके रूपमें हमें अक्षय सावन दिया जो भारतीय जीवनको निरन्तर सराबोर करता रहता है।

गोस्वामीजीका श्रावण-वर्णन

जब-जब सावन आया तुलसीका भक्त-हृदय फूल उठा, कवि-हृदय नाच उठा। श्यामघनमें उन्हें घनश्यामका दर्शन हुआ और उनके नयन चातक बन गये—

एक राम घनश्याम हित चातक तुलसीदास।

इतना ही नहीं, उस भक्तशिरोमणिने न केवल सावनको, अपितु समस्त वर्षाऋतुको ही भक्तिका रूपक दे रखा है। यह वर्षाऋतु तुलसीदासको भक्तिकी भाँति ही प्रिय है। इसमें उन्हें वही आनन्द प्राप्त होता है जो आनन्द धानके पौधेको होता है—

बरषा रितु रघुपति भगति तुलसी सालि सुदास।
राम नाम बर बरन जुग सावन भादव मास॥
(मानस १। १९)

सावन और बरसात ही नहीं, इस बरसातके प्रेमी मोर, चातक और पपीहेतक तुलसीको प्रिय हैं। उनकी एकनिष्ठा, सहज प्रेम, अनुराग, एकाङ्गी प्रेम, प्रेमका नेम और दृढ़ताको स्पष्ट करनेके लिये उन्होंने रूपक, उपमा और उत्प्रेक्षाका सहारा लेकर अनमोल दोहोंकी रचना की है। दोहावलीके लगभग छत्तीस दोहोंमें इन पक्षियोंके माध्यमसे उन्होंने अपने आराध्यके श्रीचरणोंमें भाव-निवेदन किया है। डंकेकी चोट इस बातकी प्रशस्ति दी है कि चातककी एकाङ्गी निष्ठा और व्रत, मोरकी रूप-दर्शन-लालसा तथा पपीहेका नाम किसी भी भक्तके लिये आदर्शभक्तिकी सीमा-रेखा है। कैसा उच्चादर्श है इस चातकके प्रेमका—

एक भरोसो एक बल एक आस बिस्वास।
(दोहावली २७७)

इतना ही क्यों ?

जौं घन बरषै समय सिर जौं भरि जनम उदास।
तुलसी या चित चातकहि तऊ तिहारी आस॥
(दोहावली २७८)

चढ़त न चातक चित कबहुँ प्रिय पयोद के दोष।
तुलसी प्रेम पयोधि की ताते नाप न जोख॥
(दोहावली २८१)

इस प्रसङ्गमें पपीहेकी प्रीति भी कम प्रशंसनीय नहीं—

प्रीति पपीहा पयद की प्रगट नई पहिचानि।
जाचक जगत कनाउड़ो कियो कनौड़ा दानि॥
(दोहावली २८९)

चातकका प्रेम तो उसके अखण्ड व्रतके लिये ही प्रसिद्ध है। बहेलिया उसे मार डालता है। गङ्गामें गिरते समय भी वह चोंचको पानीसे सटने नहीं देता, ऊपर ही उठाये रहता है—

बध्यो बधिक परयो पुन्यजल उलटि उठाई चोंच।
तुलसी चातक प्रेम पट मरतहुँ लगी न खोंच॥
(दोहावली ३०२)

इसी प्रसङ्गको स्पष्ट करते हुए उन्होंने मानसमें भरतजीके संदर्भमें कहा है—

जलदु जनम भरि सुरति बिसारउ। जाचत जलु पबि पाहन डारउ॥
चातकु रटनि घटें घटि जाई। बढ़ें प्रेमु सब भाँति भलाई॥
(मानस २। २०४। ३-४)

उन्हें रामभक्तिरस और रामनामके प्रेमोन्मादमें सर्वत्र श्रावणके अन्धेकी तरह हरा-हरा ही दिखायी देता है—

मोहि ते 'सावनके अंधहि' ज्यों सूझत रंग री।
(विनयपत्रिका २२६। २)

वे सच्चे प्रेम-प्रवाहकी तुलना श्रावणकी महानदीके (गङ्गाके) प्रवाहसे करते हैं, जो सर्वथा अनवरोध्य है—

साँच सनेह साँच रुचि जो हठि फेरइ।
सावन सरित सिंधु रुख सूप सो घेरइ॥
(पार्वती-मङ्गल ५९)

तुलसीका कवि-हृदय पावसको देखकर, सरस सुहावन सावनको देखकर अलौकिक आनन्दसे गद्गद हो उठा है और उससे कविता बरसाती नदीकी भाँति

फूट पड़ती है। अपनी समस्त काव्य-प्रक्रियाको उन्होंने इसीलिये वर्षाका रूपक दिया है। उनके काव्य और सावनकी वर्षा-प्रक्रियामें कितना साम्य है, देखिये—

हृदय सिंधु मति सीप समाना। स्वाति सारदा कहहिं सुजाना॥
जौं बरषइ बर बारि बिचारू। होहिं कबित मुकुतामनि चारू॥
(मानस १। १०। ८)

और उस मुक्तक काव्यको हृदय-हार बनानेकी प्रक्रिया भी देखिये—

जुगुति बेधि पुनि पोहिअहिं राम चरित बर ताग।
पहिरहिं सज्जन बिमल उर सोभा अति अनुराग॥
(वही १। ११)

तुलसीके मेघ-प्रेमकी संश्लिष्टतासे देखनेके लिये यह रूपक भी उपयुक्त है—

सुमति भूमि थल हृदय अगाधू। बेद पुरान उदधि घन साधू॥
बरषहिं राम सुजस बर बारी। मधुर मनोहर मंगलकारी॥
लीला सगुन जो कहहिं बखानी। सोइ स्वच्छता करइ मल हानी॥
प्रेम भगति जो बरनि न जाई। सोइ मधुरता सुसीतलताई॥
सो जल सुकृत सालि हित होई। राम भगत जन जीवन सोई॥
मेधा महि गत सो जल पावन। सकिलि श्रवन मग चलेउ सुहावन॥
भरेउ सुमानस सुथल थिराना। सुखद सीत रुचि चारु चिराना॥
(मानस १। ३५। ३—९)

तुलसीदासजीका यह पावस-प्रेम इतना प्रगाढ़ है कि वे घोर विपत्तिके अवसरपर भी—लंकाके संग्राम-क्षेत्रमें भी उसको नहीं भूल पाते। राम-रावण-युद्धमें काले-काले निशाचरों और काले बंदरोंके युद्धको देखकर उन्हें प्रिय पयोदकी याद आ जाती है—

प्राबिट सरद पयोद घनेरे। लरत मनहुँ मारुत के प्रेरे।
(मानस, लङ्का ४५। ९)

वर्षाकी बूँदोंकी चोटमें जिस प्रकार संसारकी मङ्गलकामना छिपी रहती है, धान्यका जीवन छिपा रहता है, उसी प्रकार तुलसीदासजीको इस वर्षीय स्मरणमें भी देवोंका मङ्गल दिखायी पड़ता है—

बरषा घोर निसाचर रारी। सुर कुल सालि सुमंगलकारी॥
(मानस, लङ्का ४५। ९)

वर्षा तो वर्षा, इसमें फैली हुई बीरबहूटियोंको भी वे भुला नहीं पाते और श्रीरामके शोणित भरे अङ्गोंसे उनकी उपमा बिठा देते हैं—

सोनित सीस जटान जटैं तुलसी प्रभु अंग महाछबि छूटी।
मानो मरकत सैल बिसालमें फैलि चली बर बीर बधूटी॥

सावनका सबसे आनन्दप्रद दृश्य है 'झूला'। इस झूलेके वर्णनमें कजरीके इस गीतमें कविका मन बरबस रम जाता है और वे वर्षाके आनन्द-वर्णनमें कभी थकते नहीं—

आली री! राघोके रुचिर हिंडोलना झूलन जैए।

× × ×

उनये सघन घनघोर, मृदु झरि सुखद सावन लाग॥
बगपाँति सुरधनु, दमक दामिनि, हरित भूमि-बिभाग॥
दादुर मुदित, भरे सरित सर, महि उमग जनु अनुराग।
पिक-मोर-मधुप-चकोर-चातक-सोर उपबन बाग॥
(गीतावली ७। १८)

श्रीरामपुरी अयोध्याकी शोभा यों तो सभी अलौकिक ऋतुओंमें है, पर बरसातमें इसकी शोभामें सहज ही चार चाँद लग जाते हैं—

सब रितु सुखप्रद सो पुरी, पावस अति कमनीय।
निरखत मनहि हरत हठि हरित अवनि रमनीय॥
बीरबहूटि बिराजहीं, दादुर-धुनि चहु ओर।
मधुर गरजि घन बरषहिं, सुनि सुनि बोलत मोर॥
बोलत जो चातक-मोर, कोकिल-कीर, पारावत घने।
खग बिपुल पाले बालकनि कूजत, उड़ात सुहावने॥
बकराजि राजति गगन, हरिधनु, तड़ित दसदिसि सोहहीं।
नभ-नगरकी सोभा अतुल अवलोकि मुनि-मन मोहहीं॥
(गीतावली उत्तर १९)

मानसमें भी इस वर्षा ऋतुका वर्णन कम मनोहर नहीं है। यद्यपि यह प्रकृति-वर्णन उपदेशात्मक है, फिर भी कमनीय है, रमणीय है—

बरसा काल मेघ नभ छाए। गरजत लागत परम सुहाए॥

लछिमन देखहु मोर गन नाचत बारिद पेखि।
गृही बिरति रत हरष जस, बिस्नु भगत कहुँ देखि॥

घन घमंड नभ गरजत घोरा। प्रिया हीन डरपत मन मोरा॥
दामिनि दमकि रह न घन माहीं। खल कै प्रीति जथा थिर नाहीं॥

और भी देखिये—

कबहुँ प्रबल बह मारुत जहँ तहँ मेघ बिलाहिं।
× × ×
कबहुँ दिवस महँ निबिड़तम कबहुँक प्रगट पतंग॥
(मानस-किष्किन्धा)

उन्हें चित्रकूट भी वर्षामें विशेष सुन्दर दीखता है।

सब दिन चित्रकूट नीको लागत।
वर्षाऋतु प्रवेश विसेष॥
(गीतावली ६। ५०)

इसपर गीतावली २। ४३ से ५० तकके गीत अवश्य देखने योग्य हैं। इस प्रकार तुलसीदासजीकृत समस्त रामकाव्यमें यथास्थल और यथासमय तुलसीदासका यह प्रिय सावन कहीं विस्तारसे और कहीं संक्षेपसे उतरता रहा है और कविके जन्म-मासका प्रेम घन-गर्जनके साथ ध्वनित करता रहा है। लोक-मङ्गलके रचयिताका मनचाहा मास यह सावन किसे नहीं भाता, इसकी रिमझिममें कौन निष्णात नहीं होता।

आध्यात्मिकताका आरम्भ और अन्त—अहिंसा

(लेखक—श्रीअगरचंदजी नाहटा)

विश्वके पदार्थों और तत्त्वोंका ज्ञान प्राप्त करनेके लिये हम जितने उत्सुक, लालायित एवं प्रयत्नशील दिखायी देते हैं, उसके अल्पांशमें भी अपनी आत्माके स्वरूपको जानने एवं समझनेका प्रयत्न नहीं करते। इसीलिये भौतिक विज्ञानके द्वारा चन्द्रलोकसे तो हमारा नाता जुड़ जाता है, पर अपनी आत्मासे (जो हमारे शरीरके भीतर एवं सब समय अपने पास है और जो सुख-शान्ति तथा आनन्दका भण्डार है, उससे) हमारा नाता नहीं जुड़ पाता। इसी कारण विश्वमें अशान्ति फैली हुई है। परंतु जैसा कि संतमनीषी विनोबाजी कहते हैं—अध्यात्मके साथ विज्ञानका मेल होना चाहिये। वर्तमानमें भौतिक विज्ञान तो बहुत तेजीसे विकसित हो रहा है, पर अध्यात्मके साथ उसका सम्बन्ध-विच्छेद-सा हो गया है। परिणामस्वरूप विनाश बढ़ रहा है। प्रत्येक मानवका, समस्त विश्वका कल्याण तभी सम्भव होगा, जब विज्ञान आध्यात्मिक भावसे ओतप्रोत होगा—विज्ञानका उपयोग जनकल्याण तथा सुख-शान्तिके लिये होगा। पारस्परिक तनाव, संघर्ष और युद्ध आध्यात्मिकताके अभावके कारण ही हो रहे हैं। विज्ञानने विनाशके साधन तो खूब उपस्थित कर दिये हैं, जिनसे मिनटों एवं सेकेंडोंमें असंख्य प्राणियों, अनेक उपयोगी वस्तुओं और चिरकालसे उपार्जित सम्पत्तिका नाश हो जाता है, पर उसमें एक मनुष्यको भी उत्पन्न करनेकी क्षमता नहीं है। वह किसी संयोगसे मनुष्योंकी उत्पत्तिकी संख्या बढ़ा भी दे, तो उसमें मनुष्यताका विकास अर्थात् मानवीय गुणोंकी वृद्धि करने की क्षमता नहीं है। यह कार्य तो कोई महनीय आध्यात्मिक पुरुष और संत-महात्मा एवं महापुरुष ही कर सकते हैं।

अध्यात्मका अर्थ है—आत्म केन्द्रित होना—आत्मामें रहना, आत्माके चिन्तनमें लीन होना। यह तभी हो सकता है, जब कि अनात्मभावोंके प्रति हमारे आकर्षण, लगाव और सम्बन्ध जो अनादिकालीन संस्कारके कारण घनिष्ठरूपसे जुड़ गये हैं, उनको हटाकर, उनसे मुँह मोड़कर आत्मोन्मुख हो जाया जाय। जगत् गौण और आत्मा मुख्य बने। हमारी आत्माकी चेतनता आत्मविस्मृतिको हटा दे।

जैसे आत्मा हमारे इस शरीरमें निवास करती है, वैसे ही वह दूसरे प्राणियोंमें भी स्थित है। जैसे हम

जीना और सुख चाहते हैं, मरना और दुःख नहीं चाहते, वैसे ही अन्य प्राणी भी जीवन और सुख चाहते हैं। इस समानताकी अनुभूति होना ही अहिंसाका मूल बीज है। हम किसीको भी किसी प्रकारका कष्ट, दुःख एवं मरण न दें। अपनी आत्माके समान ही दूसरोंकी आत्माको समझें और उसके संरक्षण-पोषण एवं सुखी बनानेमें प्रयत्नशील रहें, उनकी उन्नतिमें सहयोग देते रहें। उनके दुःखमें हम भी दुखी बनें। हम भी दुःखकी अनुभूति करें। उनके सुखमें शुभाशंसाका अनुभव करें। ऐसी वृत्ति और प्रवृत्ति ही अहिंसा है, दया है, प्रेम है। न मारना निषेधात्मक वाक्य है और मैत्रीभाव रखना उनके उत्कर्षमें सहायक बनना, वात्सल्य और प्रेमभाव रखना——यह अहिंसाके विधिवाक्य हैं। इसीलिये एक विचारसे आध्यात्मिकताका प्रारम्भ अहिंसा है। जैनधर्ममें सबसे पहला व्रत अहिंसाका बतलाया गया है। इसीलिये जैनधर्मको अहिंसा-प्रधान माना जाता है। इसी तरह महाभारत आदि आर्य ग्रन्थोंमें भी **'अहिंसा परमो धर्मः'** अर्थात् अहिंसा सबसे बड़ा धर्म कहा गया है।

आत्माके सम्बन्धमें हम थोड़ा-बहुत विचार करते भी हैं तो केवल अपनी ही आत्माका करते हैं। इस संकुचित और स्वार्थके भावसे हिंसाकी प्रवृत्तियाँ रुक नहीं पातीं। समस्त सुख-सुविधाएँ हमें ही मिलें, दूसरोंको चाहे उसके लिये कष्ट ही उठाना पड़े और मरनातक पड़े, पर हमें इसकी परवा नहीं; क्योंकि हम तो अपने आरामको ही प्रमुखता दिये हुए हैं। यही हिंसाका सबसे बड़ा और मूल कारण है। जब हम आत्मीयताका विस्तार करते हुए अर्थात् दूसरे जीवोंको भी अपने बंधु तथा मित्र मानते हुए दूसरोंके सुख-दुःखके प्रति भी ध्यान देना एवं रखना आरम्भ कर देते हैं तब समान अनुभूति और आत्मौपम्य भावसे अहिंसा विकसित होती और फलती-फूलती है।

संत विनोबाजीने भू-दान-रजत-जयन्ती-सम्मेलनके अवसरपर अपने भाषणमें कहा था कि 'अध्यात्मकी व्याख्या क्या है? इसे मैं आपके सामने श्रीशंकराचार्यके एक छोटेसे श्लोकमें रखूँगा, जिसमें उन्होंने आम जनताके लिये आध्यात्मिक व्याख्या दी है, आधार दिया है। वह है—

'गेयं गीतानामसहस्रम्। ध्येयं श्रीपतिरूपमजस्रम्।
नेयं सज्जनसङ्गे चित्तम्। देयं दीनजनाय च वित्तम्॥

(मोहमुद्गर २७)

'१—गीता और विष्णुसहस्रनाम गाया करो, २—भगवान्के स्वरूपका निरन्तर ध्यान करो, ३—सज्जन-सङ्गतिमें चित्त रखो, ४—दीन-दुखियोंकी सहायता करो।'

दीन-दुखियोंकी मदद करना दया, धर्म माना गया है। श्रीशंकर एवं श्रीरामानुज आदि आचार्यों, साधु-संतों, महात्माओंने तथा प्राचीन ऋषि-मुनियोंने यही कहा कि दीन-दुखियोंके दुःखको सदैव दूर करनेका प्रयत्न करना चाहिये। यह अध्यात्मका अङ्ग है। अहिंसाका विधेयक रूप भी यही है। करुणा, अनुकम्पा, दया, प्रेम, मैत्री——ये सब इसीके विविध नाम एवं रूप हैं।

अध्यात्मका अन्त भी परिणामतः अहिंसा ही है। इसका कारण यह है कि सब आत्माओंमें नियोजित सूक्ष्म जीव और व्यापक परमात्मामें भी आत्माकी दृष्टिसे समभाव माना गया है। बाहरी भेद गौण होकर आत्माका सिद्ध स्वरूप, अनन्त ज्ञान या दर्शन, शक्ति और आनन्द सत्ताके रूपमें सबमें भरा हुआ है। उस समत्वकी अनुभूतिको ही वीतरागताकी स्थिति और राग-द्वेषके अभावको ही अहिंसा, पूर्ण अहिंसा माना गया है। यहाँ आकर वीतरागता, समता और अहिंसा एक हो जाती है, क्योंकि दूसरेकी हिंसा अपनी आत्मगुणोंकी हिंसा है। अपने आत्माके शुद्ध स्वरूपपर या गुण और धर्मपर कर्मोंका तनिक भी आवरण आ जाना आत्म-हिंसा है। आत्मगुणोंका परिपूर्ण

विकास और शुद्ध-स्वरूप, स्वभाव, रूप, धर्मपर गुणोंका पूर्ण प्रभाव प्रकट हो जाना ही अहिंसा है। श्रीमद्देवचन्द्रजीने अध्यात्मगीतामें बहुत थोड़े शब्दोंमें हिंसा और अहिंसा क्या है ? यह स्पष्ट कर दिया है—

> आत्मगुण नो हिंसक भावे थाय,
> आत्मगुणे नो रक्षक भाव अहिंस कहाय,
> आत्मगुण रक्षणा तेह धर्म,
> स्वगुण विध्वंसणा ते अधर्म।

अर्थात् आत्माको निरावरण, अनाश्रव, संवर और निर्जराकी स्थिति—अप्रमाद-भाव ही अहिंसा है और प्रमाद या आत्मविस्मृति ही हिंसा है। हिंसामें मूल प्रमाद है और अहिंसा अप्रमाद और आत्मजागरण तथा शुद्ध स्वरूपमें स्थिति या आत्मरमणता है। इस अवन्ध-स्थितिमें पूर्ण अहिंसा मानी गयी है। 'तत्त्वार्थसूत्रम्' में हिंसाकी व्याख्या करते हुए कहा गया है। **'प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा'**, (७। ८)। अर्थात् ऐसे तो असंख्य जीव हर समय बढ़ते रहते हैं। शारीरिक प्रवृत्तियाँ—चलना-फिरना, खाना-पीना, बोलना आदि केवली साधु और तीर्थंकर भी करते हैं तथा उन प्रवृत्तियोंमें सूक्ष्म जीव ही नहीं, कभी-कभी बादर—बड़े जीव भी मर जाते हैं, पर उसमें प्रमादयोग न होनेके कारण इसमें हिंसाका दोष या पापकर्म नहीं बनता। इसीलिये ऊपरकी व्याख्यामें **'प्राणव्यपरोपणम्'**से पहले **'प्रमत्तयोगात्'** शब्द जोड़ा गया है। हमारा मन, वचन और कायोंमें कषायभाव—राग-द्वेष होता है तभी प्रवृत्ति अर्थात् दूसरोंका प्राण-हरण हिंसाकी सीमामें आता है। अतः हम अप्रमत्त रहें। राग-द्वेषका भाव न हो। फिर भी दूसरे प्राणियोंकी हिंसा हमारे अज्ञानमें (न चाहते हुए) हो जाय तो वह निश्चयदृष्टिसे हिंसा नहीं है।

राग और द्वेष कर्म-बन्धके दो प्रधान कारण हैं। कर्मोंसे आत्मिक गुणोंपर आवरण पड़ता है। वास्तविक दृष्टिमें आत्माकी शुद्धतापर कर्मोंकी मलिनता आ जाना या छा जाना आत्म-हिंसा है। अनाश्रव और अवन्ध-स्थिति ही निश्चयदृष्टिसे अहिंसा है, यही आध्यात्मिक पूर्णता है। इसलिये अध्यात्मका अंश भी अहिंसा है। यह फलित होता है।

दूसरे प्राणी भी अपने समान आत्मा ही हैं। अतः उनको कष्ट देना अपने ही दुःखका कारण बनेगा। आज वह निर्बल है, अतः उन्हें हमारा दिया हुआ कष्ट अनिच्छासे विवश होकर लेना पड़ता है। पर कल या कभी हम भी उनकी स्थितिमें आ सकते हैं—निर्बल बन सकते हैं और वे निर्बलसे सबल बन सकते हैं। एक बारका किया हुआ वैरानुबन्ध बहुत लम्बे कालतक चलता रहता है। हमने उन्हें कष्ट दिया है तो मौका मिलनेपर वे भी उसके प्रतिशोधरूपमें हमें कष्ट दे सकते हैं। उसे यदि हम समभावसे भोग लेते हैं तो नये कर्मका बन्धन नहीं होगा, पर मनमें मौका मिलनेपर प्रतिशोध लेनेकी भावना रह सकती है। विवशतासे दूसरोंका दिया हुआ कष्ट भोगना पड़ा तो नये वैरकी सृष्टि हो जायगी। इसलिये हिंसा महान् दुःखदायी है। केवल इस जन्मके लिये ही नहीं, जन्म-जन्मान्तरोंके लिये भी यह कष्टदायी है। इस बातको गम्भीरतासे सोचते हुए हम सदा यथाशक्य प्राणिमात्रके रक्षणका ही प्रयत्न करें। यही अहिंसा-धर्म है। जैनधर्ममें साधु-साध्वियोंके लिये षट्-जीवनिकायका रक्षण परमावश्यक माना है; क्योंकि तात्त्विक दृष्टिसे हमारी और उनकी आत्मा एक समान है। उनकी अभिव्यक्ति अधिक है। हमारी विपक्ति अधिक है। पर मूलस्वरूपकी या सत्ताकी दृष्टिसे दोनोंमें कोई भेद नहीं है। यह अभेद-भावना ही अध्यात्म है। जितने-जितने अंशोंमें अध्यात्म-अहिंसाका हमारा भाव बढ़ता जायगा, उतने-उतने अंशोंमें हम परमात्माकी ओर अग्रसर होते जायँगे। फिर एक दिन जिस हेतु हमें यह मनुष्य-जीवन मिला है, उसी अन्तिम ध्येय परमानन्दमय परमतत्त्वको प्राप्तकर हम धन्य हो जायँगे।

उच्च जीवनके लिये भव्य भावनाएँ अपनायें

(लेखक—पं० श्रीभृगुनन्दनजी मिश्र)

अधिकतर व्यक्ति सात्त्विक विचारों एवं भावनाओंकी शक्ति तथा महत्त्वको नहीं जानते, इसलिये वे अपने मनमें उठनेवाली क्षुद्र भावनाओंके अधीन हो जाते हैं। एवं मस्तिष्कके छोटे तथा तुच्छ विचारोंके अधीन रहनेवाले व्यक्ति सदैव निर्बल, परतन्त्र एवं निराशावादी होनेसे दुःखी बने रहते हैं। पर स्वच्छ विचारवाले व्यक्ति सदैव उत्साही, साहसी, सामर्थ्यवान् एवं सुखी देखे जाते हैं। दीनता, हीनता, निर्बलता, अज्ञान, असहायपन आदिके अनेक ऐसे विचार हैं जो हमारे जीवनरूपी वृक्षकी जड़ें उखाड़ते चले जा रहे हैं।

बाह्य जगत्में कुछ ही व्यक्ति हमारे शत्रु या प्रतिद्वन्द्वी हो सकते हैं, किंतु अपने ही दिमागी हीन विचार तथा मानसिक निम्नस्तरकी भावनाएँ हमें निरन्तर अप्रत्यक्षरूपसे भयंकर हानि पहुँचाती रहती हैं। सारी भौतिक सृष्टिके सत्त्व, रज, तम—तीनों गुणोंका कार्य होनेसे समस्त विश्वमें त्रिगुणात्मक भावनाएँ व्याप्त हैं। जिस व्यक्तिमें जिस गुणकी प्रधानता होती है, वह उसी गुणके विचारों तथा भावनाओंका केन्द्र बन जाता है। सत्त्वगुण प्रधान भावनाओंसे मनुष्यमें सत्त्वगुणकी वृद्धि कर रजोगुणी तथा तमोगुणी विचार बदले जा सकते हैं; किंतु प्रायः सामान्य मनुष्योंकी स्थिति इससे भिन्न होती है। व्यक्तियोंके हीन विचार अदृश्य जगत्में बिखरे हुए रोग, शोक, संताप, निराशा एवं निर्बलता आदिको नित्यप्रति निमन्त्रण दे-देकर अपनी ओर आकृष्ट करते रहते हैं और कुछ समयमें ये विजातीय हीन विचार मनुष्यके समस्त सामर्थ्य, साहस एवं शक्तिको कुण्ठित कर देते हैं। इसका अप्रत्यक्ष प्रभाव मानव-जीवनपर पड़ता हुआ दृष्टिगोचर होता है। वास्तवमें उत्कृष्ट एवं पवित्र भावनाओंमें दैवी-सम्पदाकी अनन्त शक्ति विश्वभरमें बिखरी हुई है, जो उसकी सजातीय विचारयुक्त तन्मयता एवं तीव्रताके साथ चिन्तन करनेवाले व्यक्तिकी ओर स्वाभाविक रूपसे आकर्षित होने लगती है। उच्च विचारों एवं भावनाओंसे प्राप्त होनेवाली दैवी-सम्पदा मानवमें अनेक सद्गुणोंका विकास कर उसे ईश्वरत्व एवं अमरत्वकी ओर अग्रसर करती है। उसके विपरीत मलिन विचार एवं निम्नस्तरीय भावनाओंके फलस्वरूप आयी हुई आसुरी-सम्पदा मानवको दानव बनाकर पतनके गहरे गर्तमें डाल देती है। लौकिक एवं पारलौकिक सभी दृष्टियोंसे मनुष्यके हीन विचार उसकी शारीरिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक प्रगतिमें दीवारके समान बाधक बनकर उसका मार्ग अवरुद्ध कर देते हैं।

हमारे धर्मग्रन्थ अनादिकालसे स्पष्ट घोषणा करते आ रहे हैं कि जीव परमात्माका ही अंश या पुत्र है, किंतु मलिन एवं अनात्मभावनाओंकी स्वीकृतिके कारण अज्ञानके वशीभूत होकर अपने वास्तविक स्वरूप एवं सामर्थ्यको भूल गया है; अतः अपने जन्मसिद्ध अधिकारकी पुनः प्राप्तिके लिये हमें मस्तिष्कको हीन विचार एवं मनको तुच्छ भावनाओंसे तुरंत ही मोड़ लेना होगा।

भारतके ऋषि-मुनि उत्कृष्ट भावनाओंका महत्त्व भलीभाँति समझते थे, इसलिये उन्होंने प्रत्येक कर्मके अनुष्ठानमें उच्च भावनापूर्ण संकल्प करनेका विधान बना दिया था। प्रातःकालकी जागरण-वेलामें अपने कल्याणके लिये 'सुप्रभातम्'के सूनृत श्लोकोंके पाठसे दिनचर्या प्रारम्भ होती थी। प्रातः एवं सायंकाल

वैदिक सन्ध्योपासनमें अपने शरीरके प्रत्येक अङ्गके स्वस्थ, बलवान् एवं तेजस्वी होनेके लिये निम्नलिखित संकल्पों (भावनाओं)का Auto-suggestion (आटोसजेशन)के रूपमें सफल प्रयोग करते थे—

ॐ वाङ्म आस्येऽस्तु ।
ॐ नसोर्मे प्राणोऽस्तु ।
ॐ अक्ष्णोर्मे चक्षुरस्तु ।
ॐ बाह्वोर्मे बलमस्तु ।

उपर्युक्त सूचनाएँ (आटोसजेशन) उच्चारकके शरीरमें प्राणरूपी विद्युत्-प्रवाहका संचार करके उसको समर्थ एवं सफल जीवन प्रदान करती हैं । इसी प्रकार ऋषि लोग यज्ञकी समाप्तिके पश्चात् तेज, ओज, बल और वीर्यके भण्डार परमात्मासे सजातीय भावनाओं-द्वारा भी शक्ति प्राप्त करते थे—

ॐ तेजोऽसि तेजो मयि धेहि ।
ॐ वीर्यमसि वीर्यं मयि धेहि ।
ॐ बलमसि बलं मयि धेहि ।

आधुनिक मनोवैज्ञानिक भी अब यह मानने लगे हैं कि विचार एवं भावनाओंमें चुम्बकीय शक्ति होती है । सजातीय विचार एवं अपने अनुकूल भावनाएँ सहस्रों मीलकी दूरीसे भी आकर्षित होती हैं । मनुष्योंमें शक्ति, स्फूर्ति, साहस आदि गुणोंका विकास करनेके लिये ये सजातीय भावनाएँ संजीवनीबूटीके समान चमत्कारी प्रभाव डालती हैं; उदाहरणार्थ—यदि हम स्वप्नमें कोई भयानक दृश्य देखते हैं तो जाग्रत् होते-होते हम भयसे काँपते हुए उठते हैं । यदि इसके विपरीत कोई सुन्दर एवं मनमोहक दृश्य देखते हैं तो बड़ी प्रसन्नमुद्रामें उठ बैठते हैं । जब क्षणमात्रके स्वप्नका शरीर एवं मनपर इतना प्रभाव होता है, तब जाग्रत्-अवस्थामें एकाग्रतापूर्वक किये गये उच्च विचारों एवं भावनाओंका मन एवं शरीरपर कितना स्थायी प्रभाव हो सकता है !

जीवनमें कभी-कभी ऐसी परिस्थितियाँ भी आती हैं, जब हमारा मन निर्बल, निस्तेज एवं साहसहीन हो जाता है । उस समय किसी उच्चमना महापुरुषके मुखसे निकले विचार हमारे मनको सहसा सहला कर उसमें शक्ति, स्फूर्ति एवं अदम्य साहसका संचार कर देते हैं । श्रीरामचरितमानसमें श्रीजानकीजीकी खोजके लिये समुद्र-तटपर बैठे हुए वानर-भालुओंके समूहमें निराशा, भय तथा शोकके वातावरणको भङ्ग करते हुए जाम्बन्तजी श्रीहनुमान्‌जीको सम्बोधित करते हुए कहते हैं—

पवन तनय बल पवन समाना । बुधि बिबेक बिग्यान निधाना ॥
कवन सो काज कठिन जग माहीं । जो नहिं होइ तात तुम्ह पाहीं ॥
राम काज लगि तव अवतारा । सुनतहिं भयउ पर्बताकारा ॥
कनक बरन तन तेज बिराजा । मानहुँ अपर गिरिन्ह कर राजा ॥
सिंहनाद करि बारहिं बारा । लीलहिं नाघउँ जलनिधि खारा ॥
सहित सहाय रावनहि मारी । आनउँ इहाँ त्रिकूट उपारी ॥

यह था शापग्रस्त हनुमान्‌जीपर प्रेरणात्मक एवं स्फूर्तिदायक विचारोंकी शक्तिका प्रभाव । एक सौ योजन-पर्यन्त विस्तृत महासागरको श्रीहनुमान्‌जी एक ही छलाँग-में लाँघ गये । महाभारतके युद्धके आरम्भमें शोक-मोहसे ग्रस्त धनुर्धारी वीर अर्जुनके युद्धसे विमुख हो जानेपर भगवान् श्रीकृष्णकी तेजस्वी वाणीने अर्जुनके ऊपर जो चमत्कार किया, उसे श्रीमद्भगवद्गीताके पाठक महानुभाव भलीभाँति जानते ही हैं । इसके विपरीत महाभारतमें एक ऐसे ही उदाहरणकी ओर भी पाठकोंका ध्यान आकर्षित करना अप्रासङ्गिक न होगा । जब कौरवों तथा पाण्डवोंकी सेनाके वीर एक दूसरेपर विजयकी आशासे भयंकर प्रहार कर रहे थे, तब वीरवर कर्णके सारथी बने हुए मद्रराज शल्य कर्णको हीन कुलमें उत्पन्न, सूतपुत्र तथा दुर्योधनका आश्रित बन्धु या सैनिक आदि वाग्बाणों-से मर्माहत तथा निरुत्साहित कर रहे थे, जिसके परिणामस्वरूप महावीर कर्णको अर्जुनके सामने पराजित होकर मृत्युको वरण करना पड़ा । हीन भावनाओंसे

ग्रस्त व्यक्तिके पतनका इससे बढ़कर और कौन-सा उदाहरण इतिहासमें मिल सकता है !

इतिहासमें ऐसे अनेक उदाहरण हैं, जब कुछ उच्च महापुरुषोंके ओजस्वी शब्दोंने विषम एवं विपरीत परिस्थितियोंमें फँसे हुए निराश एवं हतोत्साह लोगोंको सफलता एवं विजयके शिखरपर पहुँचा दिया। अतएव अपने मनकी शक्तिको क्षीण करनेवाले हीन विचारोंसे सावधानीपूर्वक अपनेको मुक्त करनेका दृढ़ संकल्प करिये। नित्यप्रति अपने मनमें उच्च विचारोंको ही स्थान दीजिये। आरोग्य, उत्साह, शक्ति, स्फूर्ति, सफलता, पवित्रता, प्रेम, शान्ति एवं आनन्दकी भावनाएँ ही सदैव मनमें भरनेका अभ्यास डालिये। कुछ दिन लगातार इसी प्रकारकी सजातीय भावनाओंपर मनको केन्द्रित करते रहनेसे आपके आन्तरिक जीवनमें अपूर्व परिवर्तन होता हुआ दिखायी देगा। वास्तवमें तो 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' रूपसे परमात्मा ही सर्वत्र ओतप्रोत हैं, उन्हींके सजातीय विचारोंकी भावना आपके जीवनमें विलक्षण चमत्कार उपस्थित कर देगी और आपका जीवन सभीके लिये आकर्षक एवं प्रेरणाका स्रोत बन जायगा। उपर्युक्त स्वर्णसूत्रको श्रद्धा एवं विश्वासके साथ जीवनमें उतारकर उसका चमत्कार आप स्वयं देख सकेंगे।

सच पूछिये तो हीन विचार हमारे 'अपने' न होकर विजातीय विषाक्त द्रवके समान हैं, जिनके लिये हमारे मनमें कोई स्थान नहीं होना चाहिये। जिस प्रकार कोई भी बुद्धिमान् व्यक्ति दुर्गन्धयुक्त सड़ी-गली वस्तुओंको अपने घरमें रखना पसन्द नहीं करता, उसी प्रकार हीन विचारधाराके संस्कार जो हमारे मनके रजोगुणी एवं तमोगुणी अंशके कूड़ा-कर्कट हैं और जिन्होंने हमारे मनकी शक्ति एवं सामर्थ्यको आच्छादित कर लिया है, अतः बनाये रखना पसन्द नहीं कर सकता। इस आवरणको हटानेके लिये परमात्मतत्त्वसे सम्बद्ध पवित्रतम उत्कृष्ट भावनाओंसे अपने दृढ़ संकल्परूपी अग्निको प्रज्वलित करके उन समस्त हीन एवं मलिन भावनाओंको जलाकर भस्मीभूत कर दीजिये। भव्य भावनाओंसे अभिमन्त्रित जीवन इस प्रकार परिवर्तित हो जाता है, जैसे भृङ्गी एक लघु कीटको पकड़कर अपने छिद्रमें लाकर रख देता है और फिर अपनी गुञ्जन ध्वनिपूर्ण सहवाससे उसको सर्वथा अपने ही (भृङ्गी, भ्रमर) रूपमें बदल देता है।

अतः यदि आप निराशा, रोग, शोक एवं संतापयुक्त तथा मरणधर्मा जीवभावसे मुक्ति चाहते हैं और अपनी हृदयगुहामें छिपे हुए सत्यको अपना लक्ष्य बनाकर उसी अमृततत्त्वकी प्राप्ति करना चाहते हैं, जिसकी घोषणा भगवान् श्रीकृष्णने गीता (१६ । १३)में की है—

ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते।
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम्॥

वह परब्रह्म ज्योतियोंका भी ज्योति एवं अविद्या-अज्ञानान्धकारसे अत्यन्त परे कहा गया है, वह परमात्मा बोधस्वरूप, जाननेयोग्य एवं तत्त्वज्ञानसे प्राप्त करने योग्य है और सबके हृदयमें ही विशेषरूपसे स्थित है। अतः आप उच्च, उदात्त विचारों एवं भव्य भावनाओंकी भावनासे भावित हो जाइये।

सौमनस्यमस्तु

उच्च विचारों और उदात्त भावनाओंका संवेग मानवको उच्च भूमिपर बैठा देता है, जहाँसे वह विश्वके लिये विश्वजनीन कार्य-कलापोंका क्रियान्वयन सौमनस्यपूर्वक करने लग जाता है। इसीलिये विश्व-व्यवस्था कामी त्रिकालज्ञ ऋषि हमें 'शिवसंकल्पसूक्त'का पाठ प्रतिदिन करनेका उपदेश देते थे और वे सौमनस्य किंवा इस भावनाको दृढ़ करनेके लिये कह गये हैं कि 'जागते-सोते दूर-दूरतर, दूरतम दौड़नेवाला हमारा वह अव्यवसायी मन मङ्गलमय भावनाओंवाला हो'—*तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु*। वस्तुतः पवित्र भावना सिद्धियोंकी जननी होती है।

गीताका कर्मयोग—५

[श्रीमद्भगवद्गीताके तृतीय अध्यायकी विस्तृत व्याख्या]

(श्रद्धेय स्वामीजी श्रीरामसुखदासजी महाराज)

(गताङ्क ६, पृष्ठ-सं० २१५से आगे)

कर्मयोगका प्रकरण दूसरे अध्यायके ३९वें श्लोक **'एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु…'** से प्रारम्भ होता है और चौथे अध्यायके तीसरे श्लोक **'स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः'**पर समाप्त होता है। इस प्रकरणमें भगवान्‌ने कर्तव्य-कर्मपर विशेष बल दिया है। कर्मयोगके परिशिष्ट विषयका वर्णन चौथे अध्यायमें (भगवज्जन्म-सम्बन्धी अर्जुनके प्रश्नके उत्तरमें) किया गया है, जहाँ भगवान् अपने जन्म और कर्मोंकी दिव्यता बतलाते हुए विशेषरूपसे यह रहस्य प्रकट करते हैं कि जो कर्म बाँधनेवाले होते हैं, वे ही कर्म अपने लिये न करनेपर मुक्त करनेवाले हो जाते हैं।

श्रीमद्भगवद्गीताका दिव्य उपदेश (२। ११से) प्रारम्भ करनेपर सबसे पहले भगवान् यह स्पष्ट करते हैं कि शरीर (देह) और शरीरी (आत्मा) एक-दूसरेसे सर्वथा भिन्न हैं। शरीर अनित्य, असत् एकदेशीय और नाशवान् है तथा शरीरी (आत्मा) नित्य, सत्, सर्वव्यापी और अविनाशी है। अतएव नाशवान् वस्तुका विनाश देखकर दुःखी नहीं होना और अविनाशी वस्तुको उसकी अविनाशिता देखकर बनाये रखनेकी इच्छा नहीं करना—विवेक कहा जाता है। तात्पर्य यह कि मनुष्यको चिन्ता-शोकका त्याग करके अपने कर्तव्य-कर्मका तत्परतासे पालन करना चाहिये। ज्ञानयोग, भक्तियोग और कर्मयोग—तीनों ही योगमार्गोंमें विवेककी बड़ी आवश्यकता है। 'मैं शरीरसे सर्वथा भिन्न हूँ'—ऐसा विवेक (ज्ञान) होनेपर ही मुक्तिकी अभिलाषा जाग्रत् होती है। मुक्तिकी बात तो दूर रही, स्वर्गादिकी प्राप्तिकी कामना भी ऐसा विवेक होनेपर ही जाग्रत् होती है। इसीलिये भगवान्‌ने अपने उपदेशका प्रारम्भ करते ही सबसे पहले विवेकका ही निर्वचन किया है।

गीताका उपर्युक्त विवेक-प्रकरण दूसरे अध्यायके ११वें श्लोकसे प्रारम्भ होकर ३०वें श्लोकपर समाप्त होता है। विवेकके इस प्रकरणमें भगवान्‌ने एक भी दार्शनिक शब्द (जैसे—आत्मा, अनात्मा, प्रकृति, पुरुष, ब्रह्म, अविद्या, जगत्, माया आदि)का प्रयोग नहीं किया है*, बल्कि सभी मनुष्य सरलतासे समझ सकें, ऐसे ढंग (भाषा) से भगवान्‌ने उसका विवेचन प्रस्तुत किया है। इसका तात्पर्य यह है कि मनुष्यमात्र परमात्म-प्राप्तिका अधिकारी है; क्योंकि मनुष्य-शरीर परमात्मप्राप्तिके लिये ही मिलता है। अतएव मनुष्य-मात्र—चाहे वह विद्वान् हो या मूर्ख, उपर्युक्त विवेकका आश्रय लेकर परमात्मप्राप्ति कर सकता है।

इस प्रकरणमें भगवान्‌ने 'बुद्धि' शब्दका प्रयोग भी नहीं किया है। वस्तुतः अनित्य, सत् और असत्, अविनाशी और विनाशी, शरीर और शरीरीको अलग-अलग समझनेके लिये 'विवेक'की आवश्यकता है, 'बुद्धि'की नहीं। विवेक अनादि तथा बुद्धिसे परे है। जैसे प्रकृति और पुरुष (गीता १३। १९) तथा सत् और असत् (गीता २। १६) अनादि हैं, वैसे ही उनकी भिन्नताको

* यद्यपि इस प्रकरण (गीता २। १५, २१)में 'पुरुष' शब्दका प्रयोग किया गया है, तथापि वह 'प्रकृति-पुरुष'के अर्थमें प्रयुक्त न होकर 'मनुष्य'के अर्थमें ही प्रयुक्त हुआ है।

प्रकट करनेवाला विवेक भी अनादि है। यही विवेक बुद्धिमें प्रकट होता है। यह विवेक समस्त प्राणियोंको नित्य-प्राप्त है, जैसे—पशु-पक्षी भी खाद्य-अखाद्य पदार्थोंकी भिन्नताको जानते हैं, लता-वृक्षमें भी सर्दी-गर्मी, अनुकूलता-प्रतिकूलताका विवेक होता है। बुद्धि-प्रधान होनेके कारण मनुष्यको यह (विवेक) विशेषरूपसे प्राप्त है। (इससे वह तत्त्वोंका भी विवेचन करता है।)

विवेक होनेपर अर्थात् शरीर और शरीरी (आत्मा)-की भिन्नताको ठीक-ठीक समझ लेनेपर साधकके लिये अपने कहलानेवाले अन्तःकरणसहित संसारका अत्यन्त अभाव हो जाता है और उसकी बुद्धि शुद्ध तथा सम हो जाती है अर्थात् बुद्धिका विषम-भाव मिट जाता है (गीता २। ३८)।

दूसरे अध्यायके ३९वें श्लोकमें भगवान् 'बुद्धि' शब्दका सबसे पहली बार प्रयोग करते हैं। यहींसे कर्मयोगका प्रकरण प्रारम्भ होता है *।

इस प्रकरणमें भगवान् बतलाते हैं कि कर्मयोगमें बुद्धिके एक निश्चयकी ही प्रधानता है। मनुष्यको जब अपने कल्याण अथवा परमात्मप्राप्तिका ही लक्ष्य, उद्देश्य या निश्चय हो जाता है, तब उसकी बुद्धिमें स्वतः समभाव आ जाता है कि मुझे केवल अपना कल्याण या परमात्मप्राप्ति करनी है और संसारसे कुछ भी न चाहते हुए कर्त्तव्य-तया उसकी सेवा करनी है। इस प्रकार बिना कुछ किये ही बुद्धि स्वतः सम हो जाती है। सम-भाव करनेके लिये तभीतक कहा जाता है, जबतक बुद्धिमें संसारका महत्त्व, आकर्षण, खिंचाव रहता है। एक निश्चयात्मिका बुद्धिके हो जानेपर संसारका महत्त्व, आकर्षण, खिंचाव स्वतः मिट जाता है और नित्य-सिद्ध तत्त्व (परमात्मा) का शीघ्र अनुभव हो जाता है।

दूसरे अध्यायमें कर्मयोगका यह प्रकरण ५३वें श्लोकपर समाप्त होता है। इसके पश्चात् ५४वें श्लोकमें अर्जुन स्थितप्रज्ञ पुरुषके विषयमें प्रश्न करते हैं, जिसका उत्तर भगवान् दूसरे अध्यायके समाप्तिपर्यन्त (७२वें श्लोकतक) देते हैं। अतः स्थितप्रज्ञ-विषयक यह प्रकरण भी कर्मयोगके ही अन्तर्गत है।

दूसरे अध्यायके ५२वें और ५३वें श्लोकमें 'मध्यम पुरुष' (ते†)का प्रयोग करके मुख्यतः अर्जुनको स्थितप्रज्ञता कैसे प्राप्त हो—इस विषयमें कहा गया है। इसके पूर्व ५१वें श्लोकमें बहुवचनका प्रयोग करके भगवान् यह स्पष्ट करते हैं कि समस्त कर्मयोगियोंको परमपदकी प्राप्ति होती है। इसके भी पूर्वके बारह श्लोकोंमें (३९वेंसे ५०वें श्लोकतक) 'मुझे केवल परमात्मप्राप्ति ही करनी है; इसके अतिरिक्त मुझे कुछ भी नहीं चाहिये'—इस प्रकारकी त्यागयुक्त निश्चयात्मिका बुद्धिकी अत्यन्त आवश्यकता बतलायी गयी है‡। ऐसी निश्चयात्मिका बुद्धिके होनेमें भोग और

---

* यहाँ श्रीभगवान् कहते हैं—

एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धियोंगे त्विमां शृणु। (गीता २। ३९)

'हे पार्थ ! यह समबुद्धि तेरे लिये सांख्ययोगके विषयमें कही गयी और इसीको अब तू कर्मयोगके विषयमें सुन।'

† व्याकरणमें उत्तम, मध्यम और प्रथम—तीन प्रकारके पुरुष कर्ता माने गये हैं। 'मैं' उत्तम पुरुष-कर्ता कहलाता है। जिसे सम्बोधित किया जाय, वह 'तू' मध्यम पुरुष कर्ता कहलाता है। जो किसी अन्य (दूर-स्थित या अनुपस्थित)के विषयमें कहा जाय, वह(यह, वह, कोई आदि) प्रथम (या अन्य) पुरुष कर्ता कहलता है। यहाँ भगवान् (स्वयं वक्ता होनेसे) उत्तम पुरुष कर्ता हैं और अर्जुन(सम्बोधित किये जानेसे) मध्यम पुरुष है।

‡ सांख्ययोग या ज्ञानयोगमें विवेककी, भक्तियोगमें श्रद्धा-विश्वासकी एवं कर्मयोगमें निश्चयात्मिका बुद्धिकी प्रधानता है। कर्मयोगमें विवेक तथा श्रद्धा-विश्वास न होते हों—ऐसा नहीं है, परंतु एक निश्चयात्मिका बुद्धिकी मुख्यता रहती है।

संग्रह (अर्थात् भोग भोगना और भोगोंके लिये संग्रह करना)—दोनोंको साधकके लिये महान् बाधक बतलाया गया है (गीता २ । ४४)। सूत्ररूपसे कर्मयोगकी व्याख्या करते हुए भगवान् (२ । ४७में) कहते हैं—'कर्म करनेमें ही तेरा अधिकार है, फलमें कभी नहीं अर्थात् तुझे फलकी इच्छाको त्यागकर ही कर्तव्य-कर्मोंको करना है; इसलिये तू कर्मोंके फलका हेतु मत हो और तेरी कर्म न करनेमें भी आसक्ति न हो।' इसी श्लोकके चौथे चरण **'मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि'** (तेरी कर्म न करनेमें भी आसक्ति न हो) का विवेचन भगवान्ने कर्मयोग-विषयक तीसरे अध्यायमें (श्लोक ४से २९तकमें) कर्मकी अवश्यकर्तव्यतामें कुल बीस हेतु बताकर विस्तारसे किया है; क्योंकि अर्जुन कर्मोंसे विरत होना चाहते थे (गीता २ । ५) । इसके बाद ४८वें श्लोकमें भगवान् अर्जुनको योग अर्थात् समतामें स्थित होकर कर्म करने तथा ४९वेंमें सकाम कर्मकी निन्दा एवं समताकी महत्ता प्रकट करते हुए समताका आश्रय लेनेकी आज्ञा देते हैं।

कर्मयोगके इस (दूसरे अध्यायके) प्रकरणमें भगवान् अर्जुनको सम-भावपूर्वक कर्तव्य-कर्म करनेके लिये विशेषरूपसे कहते हैं—**'कर्मण्येवाधिकारस्ते'** (गीता २ । ४७) **'योगस्थः कुरु कर्माणि'** (गीता २ । ४८) 'तेरा कर्म करनेमें ही अधिकार है, अतः समतामें स्थित हुआ तू कर्मोंको कर।' इसके साथ यह भी कहते हैं कि— **'दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगात्'** (गीता २ । ४९) 'बुद्धियोग (समता) से सकाम-कर्म—कामनापूर्वक किये जानेवाले कर्म अत्यन्त तुच्छ हैं; आगे कहते हैं— **'बुद्धौ शरणमन्विच्छ'** (गीता २ । ४९) **'बुद्धियुक्तो जहातीह······योगः कर्मसु कौशलम्'** (गीता २ । ५०) 'तू समताका आश्रय ग्रहण कर, समतापूर्वक कर्म करनेवाला पुरुष पाप और पुण्य दोनोंको यहाँ जीवित-अवस्थामें ही त्याग देता है, इसलिये तू समताकी प्राप्तिके लिये ही प्रयत्न कर; क्योंकि समता ही कर्मोंमें चतुरता है ।

अर्जुनके मनमें युद्ध न करनेका आग्रह पहलेसे ही था (गीता २ । ९) । वे युद्धको महान् पाप समझते थे (गीता १ । ४५) । पहले अध्यायके ३१वें श्लोकमें अर्जुन कहते हैं—'युद्धमें अपने कुलको मारकर मैं कल्याण भी नहीं देखता'—**'न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे;'** फिर ४५वें श्लोकमें वे कहते हैं—'अहो ! शोक है कि हमलोग बुद्धिमान् होकर भी युद्धरूपी महान् पाप करनेको तैयार हो गये हैं'—**'अहो बत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयम्'**। आगे दूसरे अध्यायके ५वें श्लोकमें अर्जुन कहते हैं—'मैं भिक्षाका अन्न लेना भी कल्याणकारक समझता हूँ; पर युद्ध करना नहीं, **'श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके'** और ९वें श्लोकमें तो भगवान्की आज्ञा (गीता २ । ३)के विरुद्ध अपना निर्णय ही सुना देते हैं—'मैं युद्ध नहीं करूँगा'—**'न योत्स्ये'** ।

यह नियम है कि अपना आग्रह रखनेसे श्रोता वक्ताकी बातोंका आशय भलीभाँति नहीं समझ सकता । यही कारण है कि अपना (युद्ध न करनेका) आग्रह रखनेसे अर्जुन भी उपर्युक्त प्रकरणमें आये भगवान्के वचनोंका आशय भलीभाँति नहीं समझ सके । भगवान्के वचनोंका आशय था कि फलेच्छाको लक्ष्य रखकर कर्म करना अत्यन्त तुच्छ है, अतः फलेच्छाका त्याग करके समतापूर्वक कर्तव्य-कर्मोंको करना चाहिये । परंतु अर्जुनने यह समझा कि कर्म करनेमें कुछ भी नहीं रखा है । यज्ञ, दान, तप आदि करनेका भी कोई प्रयोजन नहीं, फिर युद्ध-जैसे घोर कर्म करनेकी तो बात ही क्या है ! **'बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते'** (गीता २ । ५०)—भगवान्के इन वचनोंसे अर्जुनने बुद्धिकी समताको ही श्रेष्ठ समझ लिया । इस प्रकार उनके अन्तःकरणमें बुद्धिकी श्रेष्ठताकी छाप विशेषरूपसे पड़ गयी ।

भगवान्के वचनोंका आशय भलीभाँति न समझ सकनेके कारण अर्जुनको भगवान्के वचन मिले हुए-से

जान पड़ने लगे। भगवान्‌का अभिप्राय क्या है? वे मेरे कल्याणके लिये कौन-सा साधन श्रेष्ठ समझते हैं? इसका स्पष्टीकरण करानेके लिये अर्जुन दो श्लोकोंमें भगवान्‌से प्रश्न करते हैं—

अर्जुन उवाच

ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन।
तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव॥
व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे।
तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम्॥१-२॥

भावार्थ—

अर्जुन कहते हैं—हे जनार्दन! आपकी मान्यतामें यदि कर्मोंकी अपेक्षा समता श्रेष्ठ है, तो फिर हे केशव! मुझे घोर कर्ममें क्यों लगाते हैं? आप मिले हुए-से वचनोंसे मेरी बुद्धिको मोहित-सी कर रहे हैं। अतः उस एक बातको निश्चित करके कहिये, जिससे मेरा कल्याण हो।

कोई भी साधक श्रद्धापूर्वक पूछनेपर ही अपने प्रश्नका सही उत्तर प्राप्त कर सकता है। आक्षेपपूर्वक शङ्का करनेसे सही उत्तर प्राप्त कर पाना सम्भव नहीं। अर्जुनकी भगवान्‌पर पूर्ण श्रद्धा है, अतः भगवान्‌के कहनेपर अर्जुन अपने कल्याणके लिये युद्ध-जैसे घोर कर्ममें भी प्रवृत्त हो सकते हैं—ऐसा भाव उपर्युक्त प्रश्नसे प्रकट होता है।

अन्वय—

जनार्दन, चेत्, कर्मणः, बुद्धिः, ते, ज्यायसी, मता, तत्, केशव, माम्, घोरे, कर्मणि, किम्, नियोजयसि॥१॥

व्यामिश्रेण, इव, वाक्येन, मे, बुद्धिम्, मोहयसि, इव, तत्, एकम्, निश्चित्य, वद, येन, अहम्, श्रेयः, आप्नुयाम्॥२॥

पद-व्याख्या—

जनार्दन—हे जनार्दन!

इस पदसे अर्जुन यह भाव प्रकट करते हैं कि हे नाथ! आप सभीकी याचना पूरी करनेवाले हैं, अतः मेरी याचना (शङ्का) तो अवश्य ही पूरी (दूर) करेंगे।

चेत् कर्मणः बुद्धिः ते ज्यायसी मता—यदि आपकी यह मान्यता है कि कर्मसे बुद्धि अर्थात् समता श्रेष्ठ है—

मनुष्यके अन्तःकरणमें एक कमजोरी रहती है कि वह प्रश्न पूछकर उत्तरके रूपमें भी वक्तासे अपनी बात अथवा सिद्धान्तका ही समर्थन चाहता है। इसे कमजोरी इसलिये कहा गया है कि वक्ताके निर्देशका (चाहे वह मनोऽनुकूल हो या सर्वथा प्रतिकूल) पालन करनेका निश्चय ही शूरवीरता है, शेष अन्य तो कायरता या कमजोरी ही कही जायगी। इस कमजोरीके कारण ही मनुष्यको प्रतिकूलता सहनेमें कठिनाईका अनुभव होता है। जब वह प्रतिकूलताको सह नहीं सकता, तब वह अच्छाईका चोला पहन लेता है, अर्थात् तब भलाईके वेशमें बुराई आती है। जो बुराई भलाईके वेशमें आती है, उसका त्याग बड़ा कठिन होता है। यहाँ अर्जुनमें भी भलाई-के वेशमें कर्तव्य-त्यागरूप बुराई आयी है; अतएव वे कर्तव्य-कर्मकी अपेक्षा बुद्धिको श्रेष्ठ मान रहे हैं। इसी कारण वे यहाँ प्रश्न करते हैं कि यदि आप कर्मकी अपेक्षा बुद्धिको श्रेष्ठ मानते हैं, तो फिर मुझे घोर कर्ममें क्यों लगाते हैं?

(क्रमशः)

निष्काम भगवत्पूजा

निःस्वार्थ होकर कार्य कर, बदला कभी मत चाह रे।
अभिमान मत कर लेश भी, मत कष्ट की परवाह रे॥
क्या खान हो क्या पान हो, क्या पुण्य हो क्या दान हो।
सब कार्य भगवत्-हेतु हों, क्या होय जप क्या ध्यान हो॥

—स्वामी श्रीभोलेबाबाजी

श्रीमद्भागवतोक्त नवधा भक्ति

(लेखक—श्रीकृष्णकान्तजी 'वत्र')

[गताङ्क ६, पृ० सं० २११से आगे]

(२) कीर्तन—भगवान्‌की मङ्गलमय लीलाओंके महत्त्वसूचक चरित्रोंका कीर्तन अर्थात् भगवच्चरित्रोंकी कथाओंका पाठ अथवा भगवान्‌के नामोंका उच्च-स्वरसे उच्चारण और जप आदि 'कीर्तन-भक्ति' है। भक्तिके इस अङ्गमें शुकदेवजी आदर्श हैं, जिनके एक सप्ताहके सत्सङ्गसे महाराज परीक्षित्‌की मुक्ति हो गयी। भक्तिके अङ्गोंमें श्रवण, कीर्तन और स्मरण; ये तीन अङ्ग मुख्य हैं—

तस्माद् भारत सर्वात्मा भगवानीश्वरो हरिः।
श्रोतव्यः कीर्तितव्यश्च स्मर्तव्यश्चेच्छताभयम्॥
(श्रीमद्भा० २ । १ । ५)

इन तीनोंमें भी कीर्तन प्रधान है। श्रवण और स्मरणमें चित्तकी एकाग्रताका होना परम आवश्यक है। चित्तकी एकाग्रताके बिना श्रवण और स्मरण (ध्यान) यथावत् नहीं हो सकता। किंतु अनजानमें अथवा जानकर उत्तमश्लोक भगवान्‌का नाम-कीर्तन करनेवाले पुरुषके पाप तत्काल वैसे ही विनष्ट हो जाते हैं, जैसे अग्निसे ईंधन (६ । २ । १८)। इसीसे कीर्तन-भक्तिको प्रधानता दी जाती है। कीर्तनके द्वारा पराभक्तिकी प्राप्ति होती है। शुकदेवजी कहते हैं—'हे राजन्! जो मनुष्य इस प्रकार यहाँ (भागवतमें) तथा अन्यत्र पुराणेतिहासादिमें वर्णित श्रीकृष्णके मङ्गलमय बाल-चरित्र एवं अवतारोंके पराक्रमसूचक अन्य चरित्रोंका कीर्तन करता है, वह परमहंसगतिको देनेवाले भगवान्‌में पराभक्ति प्राप्त करता है (११ । ३१ । २८)।'

कीर्तन-भक्तिका महत्त्व श्रीमद्भागवतके अनेक प्रसङ्गोंमें बताया गया है। वेदव्यासजीके यह पूछनेपर कि मेरे द्वारा वेदोंका विस्तार तथा वेदान्तदर्शन, महाभारत और पुराणादिकी रचना किये जानेपर भी मेरा चित्त अकृतार्थकी भाँति असंतुष्ट क्यों है? मुझमें क्या न्यूनता है, जिससे मुझे शान्ति नहीं मिलती (१ । ५ । ५–७), देवर्षि नारदने कहा था—'आपने प्रायः भगवान्‌के यशका कीर्तन नहीं किया। वह ज्ञान, जिससे भगवान् संतुष्ट न हों, न्यून ही है, अर्थात् आपकी अशान्तिका कारण एकमात्र भगवद्-गुणानुवाद-गानका अभाव ही है (१ । ५ । ८); क्योंकि तपका, शास्त्रोंके श्रवणका, स्विष्ट अर्थात् यज्ञादिविहित कर्मोंका, सूक्त अर्थात् अच्छी प्रकारकी वाक्य-रचनाके ज्ञानका और दानादिका अविच्युत अर्थ (परम फल) मुनियोंने यही निरूपित किया है कि उत्तमश्लोक भगवान्‌के गुणोंका कीर्तन किया जाय (१ । ५ । २२)।

कीर्तन-भक्तिके तीन भेद हैं—भगवान्‌की लीलाओंका, गुणोंका एवं नामोंका कीर्तन। इन तीनोंमें नाम-कीर्तन मुख्य है। भगवन्नामकीर्तन केवल साधकोंके लिये ही नहीं, किंतु समाधि-प्राप्त शुद्धान्तःकरण निष्काम योगिजनोंके लिये भी आवश्यक कहा गया है (२ । १ । ११)। सम्भवतः इसीलिये भागवतकारने स्थल-स्थलपर भगवन्नाम-कीर्तनकी महत्ता प्रतिपादित की है (३ । ९ । १५; ६ । २ । ९-१०; ६ । २ । १४-१५; ८ । १० । ५५, १२ । ३ । ५१-५२)।

(३) स्मरण—भगवान्‌के प्रभावशाली नाम, रूप, गुण और लीला आदिका श्रवण अथवा कीर्तनका मनन और भगवान्‌की लोकोत्तर लावण्यमयी मूर्तिका ध्यान करना 'स्मरण-भक्ति' है। स्मरण-भक्तिको भी परा-भक्ति प्राप्तिका साधन बताया गया है (१२ । १२ ।

५४)। भगवत्स्मरणसे समस्त विपत्तियोंका नाश हो जाता है।

'हरिस्मृतिः सर्वविपद्विमोक्षणम् ॥'
(श्रीमद्भा० ८ । १० । ५५)

अन्तःकरण-शुद्धिका सर्वोपरि साधन भगवत्स्मरण (ध्यान) ही है। भागवतकारकी मान्यता है कि विद्या, तप, प्राणायामादि योगक्रिया, मैत्री, तीर्थस्थान, व्रत, दान, तप आदिसे अन्तःकरणकी वैसी शुद्धि नहीं होती है, जैसी भगवान् श्रीहरिके हृदयमें स्थित होनेसे होती है (१२ । ३ । ४८)। इतना ही नहीं, भगवान्का स्मरण द्वेष, भय आदि भावोंसे भी करनेसे[1] सारूप्य और सायुज्य मुक्ति प्राप्त होती है। देवर्षि नारद कहते हैं—शिशुपाल, पौण्ड्रक और शाल्व आदि राजागण सोते-बैठते और खाते-पीते सर्वदा भगवान् श्रीकृष्णकी गमन और चितवन आदि चेष्टाओंका चिन्तन वैरभावसे करनेसे भी भगवत्साम्यको प्राप्त हो गये। तब भगवान्में एकान्त अनुरक्त रहनेवाले भक्तोंकी तो बात ही क्या है ? वे तो जीवन्मुक्त ही हैं (११ । ५ । ४८)। गरुडपुराणमें तो यहाँतक कहा गया है कि जो गुरुतर पाप सहस्रों बार गङ्गाजलमें और करोड़ों बार पुष्कर-जलमें स्नान करनेसे नष्ट होते हैं, वे भगवान्के स्मरणमात्रसे नष्ट हो जाते हैं (गरुड-पु० १ । २२२ । १८)।

४-पाद-सेवन—भाव-भक्तिसे आराध्यदेवकी चरण-सेवा ही 'पाद-सेवन' है।

भक्तको भगवान्के चरणोंका आश्रय ही सुखप्रद प्रतीत होता है। पाद-सेवन दो प्रकारका है—एक तो भगवान्की साक्षात् पाद-सेवा और दूसरा भगवान्के पाद-पद्मोंका भजन। इनमें प्रथम प्रकारकी पाद-सेवा अत्यन्त दुर्लभ है। इसके लिये स्वयं ब्रह्माजी भी लालायित रहते हैं (१० । १४ । ३४) और इसे अतिदुर्लभ समझकर भगवान्के लीला-परिकर व्रजवासियोंकी चरण-रजकी प्राप्तिके लिये ही वे भगवान्से प्रार्थना करते हैं—'यह मेरा सौभाग्य होगा, यदि मनुष्य-लोकमें, विशेषतया गोकुल या व्रजके किसी वनमें पशु-पक्षी, कीट-पतंग अथवा वृक्षादि योनिमें मेरा जन्म हो, (जिससे) भगवान् मुकुन्दको ही सर्वस्व माननेवाले व्रजवासियोंकी चरण-रजका मुझपर अभिषेक होता रहे, जिसे श्रुतियाँ भी अनादिकालसे खोज रही हैं (१० । १४ । ३४), गोपाङ्गनाएँ (१० । २९ । ३७) तथा स्वयं रुक्मिणीजी (१० । ६० । ४६) भी इसी पाद-सेवनभक्तिकी प्राप्तिके लिये लालायित रहती हैं। श्रीसनत्कुमारने भी आदिराज पृथुसे भगवच्चरणोंकी सेवाका उपदेश किया था (४ । २२ । ३९-४०)। इस संदर्भमें भागवतकारकी उक्ति है कि अच्युत भगवान्के चरणकमलोंकी सेवा करनेवाले भक्तको भगवद्भक्ति, वैराग्य और भगवद्विषयक ज्ञान—ये तीनों एक साथ ही प्राप्त हो जाते हैं और उसके पश्चात् वह आत्यन्तिक क्षेमको प्राप्त हो जाता है (११ । २ । ४३)। यहाँ पादसेवनभक्तिको परा-भक्तिका साधन कहा गया है।

५-अर्चन—बाह्य अथवा मनःकल्पित सामग्रियोंद्वारा भगवान्का श्रद्धापूर्वक पूजन ही 'अर्चन' भक्ति है; इससे लौकिक सम्पत्तिके साथ मोक्षकी भी प्राप्ति होती है। अर्चन भी पराभक्तिका साधन है (११ । २७ । ५३)। गृहस्थोंके लिये तो यह विशेषतया अनिवार्य है (१० । ८४ । ३७)। भगवदर्शनमें श्रद्धा ही मुख्य है (११ । २७ । १७-१८)। इसके लिये कामना-हीनताकी भी परम आवश्यकता है। जो मनुष्य भगवान्की अर्चना सांसारिक कामनाओंके

१. वस्तुतः द्वेष और भयसे स्मरण करनेका विधान नहीं है; किंतु स्मरणकी महत्ता बतलानेके लिये ऐसा कहा गया है। ऐसे स्थलपर अपि (भी) शब्दसे अर्थवाद (विषय-प्रशंसा) सूचित होता है।

लिये करते हैं, उनके विषयमें भक्तप्रवर प्रह्लाद कहते हैं—'जो लोग विषय-भोगके लिये लालायित रहते हैं, निश्चय ही उनकी बुद्धि मायाग्रस्त है; क्योंकि वे जन्म-मरणके बन्धनसे मुक्त करनेवाले कल्पतरुस्वरूप भगवद्दर्शन-को भगवत्कृपाप्राप्तिके अतिरिक्त इतर उद्देश्यकी पूर्तिमें लगाते हैं (४ । ९ । ९)।'

६-वन्दन—वन्दनका अर्थ है प्रणाम, दण्डवत् प्रणिपात। श्रीमद्भागवतमें स्वयं भगवान्‌के श्रीमुखसे प्रणाम करनेकी विधिका वर्णन हुआ है (११ । २७ । ४५-४६)। भगवान्‌को एक बार भी प्रणाम करना दस अश्वमेध यज्ञके अवभृथ[1]-स्नान-तुल्य है । अश्वमेधयज्ञ करने-वालोंको पुनर्जन्मकी प्राप्ति होती है, जब कि भगवान्‌को प्रणाम करनेवालेको फिर जन्म नहीं लेना पड़ता अर्थात् उनकी मुक्ति हो जाती है—**कृष्णप्रणामी न पुनर्भवाय** (पाण्डवगीता १३) । वन्दन-भक्तिकी इसी महत्ताकी ओर हमारा ध्यान आकृष्ट करते हुए भागवतकार कहते हैं—'भगवत्कृपा कब प्राप्त होगी ?' इस प्रकार प्रतीक्षा करते हुए अपने कर्मोंके फलको भोगते हुए तथा शरीर, वाणी और मनसे भगवद्वन्दना करते हुए जो जीवन-निर्वाह करते हैं, वे मुक्ति-पदके भागीदार बनते हैं, अर्थात् उनकी मुक्ति हो जाती है (१० । १४ । ८)।

७-दास्य—भगवान्‌के प्रति श्रद्धा और प्रेमपूर्वक सेवा 'दास्य-भाव'के अन्तर्गत आती है । इसकी प्राप्तिके लिये भगवान्‌के मन्दिरका मार्जन, लेपन, सिंचन, मण्डल-रचना आदि कृत्य निष्कपटभावसे दासकी भाँति करने चाहिये (११ । ११ । ३९)। भगवान्‌का दास्य-भाव प्राप्त होना बड़ा दुर्लभ है। भगवान्‌के पूर्ण कृपापात्र भक्त भी दास्य-सेवाके लिये उत्कण्ठित रहते हैं । प्रह्लादने नृसिंहजीसे प्रार्थना की है—'हे भूमन् ! प्रिय और अप्रिय पदार्थोंके संयोग और वियोगसे उत्पन्न होनेवाले अग्निसे सब योनियोंमें तापित होकर मैंने जो-जो ओषधि की, उससे शान्ति न मिलकर यद्यपि उलटा दुःख ही मिलता रहा है, पर उनको दुःख न समझकर भ्रमसे सुख समझता हुआ मैं इस संसारमें भ्रमता रहा हूँ, अतएव अब आप दास्य-योगरूप अमोघ ओषधि प्रदान कीजिये, जिससे सदाके लिये उस तापका नाश होकर शान्ति प्राप्त हो (७ । ९ । १७) । गोपाङ्गनाएँ भी इसी दास्य-सेवाकी याचना करती हैं (१० ।२९। ३८)।

८-सख्य—भगवान्‌में मित्रभावसे प्रेम करना 'सख्य-भक्ति' है । इस भावकी प्राप्ति भगवान्‌की पूर्ण कृपाद्वारा ही हो सकती है । अतः सख्य-भक्तिका अधिकार भगवान्‌की इच्छापर ही आधारित है । रामावतारमें कपिराज सुग्रीव और विभीषणादिको तथा कृष्णावतारमें व्रज-गोपाङ्गनाओं, उद्धव एवं अर्जुन आदि कतिपय सौभाग्यशालियोंको ही 'सख्य-भक्ति'की प्राप्ति हो सकी है । सख्य-भक्तिकी महिमामें ब्रह्माजीके वचन हैं—'अहो ! नन्दादि व्रजवासी गोपोंके भाग्य धन्य हैं, जिनके सुहृद् परमानन्दरूप सनातन ब्रह्म श्रीकृष्ण हैं' (१० । १४ । ३२) । श्रीकृष्णने स्वयं खेलमें पराजित होकर और श्रीदामाको अपनी पीठपर चढ़ाकर सख्यभक्तिका अनुपम आदर्श प्रस्तुत किया है । (१० । १८ । २४)

९-आत्मनिवेदन—तन, मन, धन और परिजन-सहित अपने-आपको समर्पण कर देना 'आत्मनिवेदन-भक्ति' है । आत्मनिवेदन करनेवाले भगवान्‌के अनन्य

[1]. अवभृथ-स्नान—जो यज्ञकी समाप्तिपर पवित्र नदियोंमें पुण्य-प्राप्ति-हेतु किया जाता है । इसकी विधि तै० ब्रा० २ । ६ । ६ में कही गयी है । (सरस्वती नदीमें अवभृथ-स्नान वर्जित है—'नावभृथं सरस्वत्याम् ।') (कात्या० २४ । ६ । २२)

भक्त चक्रवर्ती-राज्य, इन्द्रपद, रसातलका आधिपत्य, ब्रह्मपद और योगमायासे प्राप्त सिद्धियोंकी ही नहीं, भगवान्‌के अतिरिक्त वे कैवल्य मोक्षतककी इच्छा नहीं करते (१० । १४ । १४) । ऐसे साधकोंको भगवान्‌की पराभक्ति प्राप्त हो जाती है और उन्हें कुछ भी प्राप्तव्य शेष नहीं रह जाता (११ । १९ । २४) ।

उपरि निर्दिष्ट नवधाभक्तिके अतिरिक्त भी भागवतमें स्थल-स्थलपर सामान्य भक्तिकी विवेचना की गयी है। सच तो यह है कि श्रीमद्भागवतका प्रतिपाद्य ज्ञानमयी भक्ति ही है। भागवतकारकी मान्यता है कि श्रीहरि निर्मल, निष्काम भक्तिसे ही प्रसन्न होते हैं, अन्य सब विडम्बना है—

प्रीयतेऽमलया भक्त्या हरिरन्यद् विडम्बनम्।

मधुर चिन्तन

(लेखिका—श्रीमती मदालसा नारायण)

वेदोपनिषदोंके प्रमाणकी परम्परा भारतमें अनन्त-कालसे चली आ रही है। बीसवीं सदीमें भारत स्वतन्त्र हुआ। स्वराज्यका सर्वोदयकारी सूर्योदय हमने देखा, यह हमारा सौभाग्य है। स्वतन्त्र भारतका हमारा ध्येय-वाक्य **'सत्यमेव जयते'** है। यह मुण्डकोपनिषद्‌के मन्त्रका प्रथम चरण है। इसे हमारे स्वतन्त्र राष्ट्रके राजनीतिज्ञोंने आदर्श वचनके रूपमें स्वीकार किया है। इससे वेदान्तके प्रति हमारी असीम श्रद्धा प्रकट होती है। साथ ही 'अध्यात्म-साधना'के सम्बन्धमें सहज स्वाभाविक अभिरुचि भी व्यक्त होती है।

'माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः (अथर्ववेद) 'भूमि माता है और मैं पृथ्वीका पुत्र हूँ।' यह हमारी महिमा है।

प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते।
अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत् तन्मयो भवेत्॥
(मुण्डकोपनिषद् २ । २ । ४)

प्रणव (ॐकार) धनुष है, आत्मा वाण है और ब्रह्म उसका लक्ष्य है। प्रमादरहित होकर उसका वेध करना है; अतः वाण जिस तरह धनुषके साथ सम्बद्ध होकर वेग धारण करता है और उसमें लीन हो जाता है, वैसे ही प्रणवके साथ आत्मरूपसे सम्बद्ध होकर ब्रह्ममें तन्मय हो जाना चाहिये। यह है—हमारा साधना-मन्त्र। इसके आगेके एक मन्त्रमें ब्रह्मके स्वरूपका वर्णन इस प्रकार किया गया है—

ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्ताद्‌ब्रह्म
पश्चाद् ब्रह्म दक्षिणतश्चोत्तरेण।
अधश्चोर्ध्वं च प्रसृतं
ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम्॥
(मुण्डकोपनिषद् २ । २ । ११)

'यह ब्रह्म ही अमृतस्वरूप है। ब्रह्म ही हमारे आगे-पीछे और ब्रह्म ही हमारे दायें-बायें, दक्षिण-उत्तरमें व्याप्त है। यही ऊपर-नीचे सर्वत्र फैला हुआ है। यह ब्रह्म ही विश्व है (अतएव ब्रह्माण्ड कहलाता है) और यह सबसे श्रेष्ठ है।'

'स यो ह वै तत्परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति॥'
(मुण्डकोपनिषद् ३ । २ । ९)

'उस श्रेष्ठ ब्रह्मको जो जानता है, वह ब्रह्म ही बन जाता है।

यतो वाचो निवर्तन्ते। अप्राप्य मनसा सह।
आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्। न बिभेति कदाचन।
(तैत्तिरीयोपनिषद् २ । ४ । १)

'जहाँ मन और वाणी नहीं पहुँच पाती, उस आनन्द-मय ब्रह्मका अनुभव प्राप्त कर लेनेपर विद्वान् ज्ञानी सब प्रकारसे निर्भय हो जाते हैं।'

'उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत' उठो, जागो और श्रेष्ठ पुरुषोंके पास जाकर जीवनके श्रेष्ठ तत्त्वोंका ज्ञान प्राप्त करो। ऐसा आत्मानुभवीजनोंका आदेश हमें युग-युगोंसे मिल रहा है। इसी प्रकार उपनिषद्में नवयुवकोंके लिये बड़ा महत्त्वपूर्ण आशीर्वाद भी दिया गया है—

युवा स्यात् साधुयुवाध्यायकः आशिष्ठो द्रढिष्ठो बलिष्ठः। तस्येयं पृथिवी सर्वा वित्तस्य पूर्णा स्यात्।

'नवयुवकोंको होना चाहिये सदाचारी और उन्हें होना चाहिये अध्ययनशील, आशावान् दृढनिश्चयी और बलवान्। उनके लिये यह सम्पूर्ण धरती धन-धान्यसे सम्पन्न बन जाती है।'

छान्दोग्योपनिषद्में तत्त्व-चिन्तक ऋषि कहते हैं—**'बलं वाव विज्ञानाद् भूयः'** यहाँ बलका तात्पर्य आत्मबलसे है; अर्थात् आत्मबल विज्ञानसे श्रेष्ठ है, क्योंकि **'अपि ह शतं विज्ञानवतामेको बलवानाकम्पयते'**—विज्ञानियोंको एक आत्मज्ञानी भयभीत कर देता है। अतः जब विद्यार्थीमें आत्मबल जाग्रत् होता है **'स यदा बली भवति'**, तब वह अपनेमें आत्मशक्तिका अनुभव करता है; **'अथ उत्थाता भवति'** और वह उठकर खड़ा हो जाता है। भगवद्गीतामें भगवान् श्रीकृष्णने बतलाया है—

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥
(४। ३४)

'तुम ज्ञान प्राप्त करना चाहते हो तो जल्दी जागो, उठो और तत्त्वदर्शी महापुरुषोंके पास जाकर प्रणाम करो, सेवा करते हुए श्रद्धावनत हो प्रश्न पूछो, तब उन तत्त्वदर्शियोंके द्वारा तुम्हें ज्ञान प्राप्त होगा।'

इस तरह हमारे जीवनके आधारभूत इन धर्मग्रन्थोंमें कितनी सरलतासे हमें अपनी सर्वाङ्गीण उन्नतिके लिये उत्तम पथ-दर्शन मिलता है। तदनुसार विद्यार्थी गुरुजनोंकी सेवा करते हैं और सेवाद्वारा गुरुजनोंके समीप बैठनेका अवसर उन्हें मिलता है और **'उपसीदन् द्रष्टा भवति'**—वह अपने आचार्यके चरणोंमें बैठकर उनकी बातोंको तत्त्वतः समझनेवाला द्रष्टा बन जाता है। आगे क्रमशः—श्रोता मन्ता बोद्धा कर्ता और विज्ञाता होकर वह जीवन-दर्शनोंका द्रष्टा विद्यार्थी बड़ी सरलतासे श्रवण-मनन-चिन्तन करनेवाला ज्ञानी कार्यकर्त्ता और विज्ञाता बन जाता है। इसलिये आर्ष आप्त वचनोंके अनुसार हमें अपने जीवन-उत्कर्षार्थ चिन्तन करना चाहिये।

एक प्रार्थना

(लेखक—श्रीहरिकृष्णदासजी गुप्त 'हरि')

प्रभो!
मेरी दृष्टि पावन हो, लेकिन मेरी अदृष्टि और भी पावन।
मेरी वाणी मधुर हो, लेकिन मेरा मौन और भी मधुर।
मेरा स्पर्श मृदु हो, लेकिन मेरी अस्पृश्यता और भी मृदु।
मेरा बाह्यरूप सुन्दर हो, लेकिन मेरा आभ्यन्तर रूप और भी सुन्दर।
मेरे विचार शुभ हों, लेकिन मेरे आचार और भी शुभ।
मेरा संग प्रिय हो, लेकिन मेरी असंगता और भी प्रिय।
मेरी प्रवृत्तियाँ श्रेयस्कर हों, लेकिन मेरा निवृत्ति-रूप और भी श्रेयस्कर।
मेरे संकल्प प्रभावी हों, लेकिन मेरी निःसंकल्पता और भी अधिक प्रभावी।
मेरा 'मैं'—रूपमें होना सत्य हो, लेकिन मेरे 'मैं'की अभावरूपता और भी सत्य।
क्योंकि यही चिर सत्य है।

व्रज-दर्शन

(लेखक—पं० श्रीमिश्रीलालजी शास्त्री, एम्० ए०, बी० एड्०, साहित्याचार्य, हिन्दी-प्रभाकर)

महात्मा हरिदासजी श्रीदेवचन्द्रजीकी अनन्य निष्ठापूर्ण सेवाभक्तिसे अत्यन्त प्रसन्न थे। स्वप्नमें श्रीबालमुकुन्द प्रभुके द्वारा श्रीदेवचन्द्रजीके अलौकिक आध्यात्मिक स्वरूपका परिचय प्राप्तकर उनके परम पुनीत भक्तहृदयमें श्रीदेवचन्द्रजीके प्रति अपार श्रद्धा जाग्रत् हो उठी। इसलिये उन्होंने खूब विचार-मन्थनकर यह निष्कर्ष निकाला कि श्रीदेवचन्द्रजी जिस 'तरतम-ज्ञान-प्राप्तिकी साधनामें लीन हैं, उसमें सहायक बनकर उनकी सेवाभक्तिका प्रतिदान करनेमें ही मेरा श्रेय है। अतएव उन्होंने श्रीबालमुकुन्द भगवान्के स्वप्नादेशानुसार श्रीदेवचन्द्रजीको दूसरे दिवस ही प्रातःकाल श्रीबाँके-बिहारी प्रभुकी 'वस्त्र-सेवा' प्रदान कर दी।

श्रीदेवचन्द्रजी श्रीबाँकेबिहारी प्रभुकी 'वस्त्र-सेवा' शिरोधार्यकर अपनी कुटीमें चले आये। उन्होंने कुटीके एक कक्षको स्वच्छ किया, सेवासम्पन्नताके लिये चन्दन-का सिंहासन तैयार करवाया। पूजाकी सब सामग्री यथास्थान सजायी गयी और स्वयं प्रभुकी आराधनामें अनन्य प्रेमभावसे जुट गये। चौकेकी स्वच्छता, रसोईकी पवित्रता आदिके लिये बड़ी पवित्र भावनासे स्वयं जल भरकर लाने लगे। यमुनासे जल भरकर लाते समय यदि किसी प्राणीकी परछाईं भी जलपर पड़ जाती, तब उस जलको अशुद्ध—अपवित्र मानकर त्याग देते तथा पुनः स्नान करके पवित्र जल भरकर लाते थे।

प्रभुके राज-भोगके लिये नित्य नयी सामग्री बड़ी पवित्रतासे स्वयं तैयार करते। किसी प्रकारके कष्टोंकी परवा किये बिना वे अपनी अनन्य प्रेम-भक्तिमें सदा तल्लीन रहने लगे।

श्रीदेवचन्द्रजीकी धर्मपत्नी लीलाबाईजी यद्यपि बड़ी सात्त्विक वृत्तिकी थीं तथा वे सेवापरायणा और पतिव्रता अपने पतिदेवकी सेवाके लिये सदा तत्पर रहती थीं, फिर भी उनसे सहयोग न लेकर श्रीदेवचन्द्रजी अपने प्रभुके प्रत्येक सेवाकार्यको स्वयं ही करनेमें विशेष आनन्दका अनुभव करते थे। अपनी अनन्य सेवामें किसी दूसरेके हस्तक्षेपको वे सहन नहीं कर सकते थे। इसलिये परमसाध्वी लीलाबाई पति-सेवा तथा प्रभुसेवाका अवसर कम मिलनेके कारण भीतर-ही-भीतर सदा घुटती रहती थीं। पास-पड़ोसमें रहनेवाले नर-नारी जब श्रीदेवचन्द्रजीको स्वयं घरका काम करते देखते, तो वे लीलाबाईसे कहते—'लीला बहन! तुम्हारी-जैसी सती-साध्वी पत्नीके होते हुए श्रीदेवचन्द्रजी घरका काम स्वयं करते हैं, यह अच्छा नहीं लगता।' श्रीलीलाबाईजी अपने पतिदेवसे प्रार्थना करतीं—'स्वामी! आपको घरका काम अपने हाथोंसे करते हुए देखकर पास-पड़ोसके लोग मुझे अनेक प्रकारके उपालम्भ देते हैं, इसलिये मेरे समुपस्थित रहते हुए आप अपने हाथों समस्त कार्योंको स्वयं ही सम्पन्न करें—यह शोभा नहीं देता। मैं आपको वचन देती हूँ कि जिस प्रकार आप अत्यन्त पवित्र भावनासे प्रभुसेवाका समस्त कार्य करते हैं उसी प्रकार मैं भी करूँगी। अतएव मेरे योग्य प्रभुसेवाका काम मुझे भी प्रदानकर अनुगृहीत कीजिये।'

श्रीदेवचन्द्रजी पत्नीकी निश्छल-विनम्र प्रार्थनासे द्रवित होकर मुसकराते हुए मधुर वाणीसे कहते—'प्रिये! जिसका जो कार्य है वह उसीको करना उचित है। उसीमें उसे सुख मिलता है और यही शोभा देता है। मुझे अपने प्रभुकी सेवा करनेमें जिस विशेष आनन्दकी अनुभूति होती है वह अनिर्वचनीय है, उसका वर्णन नहीं किया जा सकता। यों सेवाकार्य तो तुम भी कर सकती हो, किंतु कभी सेवाकालमें श्रमजनित किञ्चित् कष्टसे अथवा यमुनासे जल भरकर लानेमें तुम्हारा दिल

कभी कष्टका अनुभव कर सकता है। ऐसे ही अन्य सेवाएँ करनेमें भी कदाचित् तुम्हारा मन विचलित हो सकता है; क्योंकि जबतक मनुष्यको कार्यके महत्त्वकी पहचान नहीं होती, तबतक कार्य करनेमें उसका मन ही नहीं रमता। यह मन बड़ा चञ्चल है, इसको किसी काममें लगाना बड़ा कठिन होता है। अतः जब किसी सेवा-कार्यको करते समय मनमें यदि थोड़ी-सी भी कष्टकी भावना उत्पन्न हुई तो प्रभु-सेवाका भाव भग्न होते पल-भरकी भी देर नहीं लगती। इसलिये अपना कार्य स्वयं करना ही मैं उचित मानता हूँ। इसमें तुम्हें दूसरोंकी बातोंसे दुखी नहीं होना चाहिये।'

इस प्रकार श्रीदेवचन्द्रजीने लीलाबाईजीको प्रेमसे समझाकर शान्त कर दिया और निश्चिन्त होकर एकाग्र भावसे अपने आराध्यकी प्रेम-सेवा तथा प्रभु-चिन्तनमें निरन्तर तल्लीन रहने लगे।

एक दिन श्रीदेवचन्द्रजी ध्यानावस्थामें मानसिक सेवा-भावनासे प्रभुको भोग (नैवेद्य) निवेदित करते-करते प्रभु-प्रेममें एकदम निमग्न हो गये। उन्हें ऐसा अनुभव हुआ—मानो वे व्रजमें नन्दबाबाके द्वारपर पहुँच गये हैं। माता यशोदा चौपालमें रत्नजटित चौकीपर बैठी हुई दूध औंट (गरम कर) रही हैं। श्रीदेवचन्द्रजी उनके समीप जाकर खड़े हो गये। यशोदा मैया अचानक श्रीदेवचन्द्रजीको अपने पास खड़ा देखकर बहुत प्रसन्न हुईं। उन्होंने मुसकराते हुए मधुर वाणीमें कहा—'देवचन्द्र! आओ, बैठो, सब कुशल-मङ्गल तो है न? भोजन करो।' श्रीदेवचन्द्रजी बोले—'मैया! मेरे आराध्य श्रीकृष्ण कहाँ हैं? मैं उनके दर्शन करना चाहता हूँ।' माता यशोदाने उत्तर दिया—'भैया देवचन्द्र! तुम्हारा वह नटखट नीलमणि (कृष्ण) तो ग्वाल-बालोंके साथ वनमें खेलने गया है।'

श्रीदेवचन्द्रजीने कहा—'मैया! तो ठीक है मैं भी वहीं वनमें चला जाता हूँ। वहींपर मैं उनके दर्शनकर कृतकृत्य हो लूँगा; क्योंकि मेरा मन तो उन्हींमें लगा हुआ है। मैया! क्षमा करें, उनके बिना मैं यहाँ अधिक समयतक नहीं ठहर पाऊँगा। आप मुझे श्रीकृष्णके पास जानेकी अब शीघ्र आज्ञा दें।' श्रीदेवचन्द्रजीकी अत्यन्त व्याकुलता देखकर यशोदा मैयाने घरसे थाल भरकर अनेक प्रकारके स्वादिष्ट, सुन्दर, मधुर पक्वान्न श्रीदेवचन्द्रको देते हुए कहा—'ये मधुर पक्वान्न (भोज्यान्न) लेते जाओ। वहीं दोनों मिलकर खा लेना। मधुरान्न तथा नवनीत अपने उस नवनीतप्रियको बहुत पसंद हैं।

श्रीदेवचन्द्रजीने पक्वान्नकी पोटली भर ली और उसे अपनी पीठपर लटकाकर बड़ी तेजीके साथ वनकी ओर चल पड़े। वनमें पहुँचते ही उन्होंने देखा कि स्थान-स्थानपर ग्वाल-बाल अपनी-अपनी टोलियाँ बना-बनाकर अनेक प्रकारके मनोरञ्जक खेल खेल रहे हैं।

श्रीदेवचन्द्रजी ग्वाल-बालोंकी प्रथम टोलीके निकट पहुँच गये। टोलीके समस्त बालक श्रीदेवचन्द्रजीको देखकर चारों ओरसे घेरकर खड़े हो गये। श्रीदेवचन्द्रजीने टोलीके मुखियासे पूछा—'दाऊ भैया! कन्हैया कहाँ हैं? देखो! मैं उनसे मिलनेके लिये बहुत दूरसे पैदल चलकर आया हूँ।' टोलीके मुखियाने उत्तर दिया—'सुनो दादा! यहाँ तो हर टोलीमें बहुत-से बाल-गोपाल अलग-अलग खेल रहे हैं और उनमें बहुत-से गोपालोंका नाम कन्हैया है, आप इनमें किस कन्हैयासे मिलना चाहते हैं?'

सुनकर श्रीदेवचन्द्रजीको विस्मय हुआ। उन्होंने सहज भावसे कहा—'भैया! मैं बाबा नन्दजीके बेटे, तुम्हारे छोटे भाई, बालगोपाल श्रीकृष्णसे मिलनेके लिये आया हूँ, कृपा करके मुझे उसी चितचोर कन्हैयासे शीघ्र मिलाइये।'

सब गोपालवृन्द जोरसे खिलखिलाकर हँस पड़े—'चितचोर'! गोपबालकोंकी हँसी एवं श्रीदेवचन्द्रजीकी

व्याकुलताको देखकर टोलीका मुखिया बोला—'दादा भैया ! बात यह है कि यहाँ टोली-टोलीमें अनेक नन्दके बेटे हैं और उन बालकोंके नाम भी श्रीकृष्ण हैं। इसलिये आप किस कृष्णसे मिलने आये हैं ? यह स्पष्ट बतलाइये।'

ग्वालोंके उत्तर सुनकर श्रीदेवचन्द्रजी पुनः अचम्भेमें पड़ गये; किंतु शीघ्र ही सँभल गये और आतुरतासे बोले—'दाऊ दादा ! आप भुलवाइये नहीं, कृपा करके बस मुझे मोरमुकुटधारी, नन्द-सुवन, यशोदा-नन्दन श्रीकृष्णका पता बतला दीजिये; वे कहाँ हैं ? और कैसे मिलेंगे ?'

यशोदानन्दनका नाम सुनते ही टोलीके सभी गोपकुमार एक साथ बोल उठे—'अच्छा, अच्छा ! आप आईजीके लालाको पूछ रहे हैं ?' अंगुलियोंके संकेतसे गोपकुमारोंने एक साथ कहा—'देखो, देखो ! वे उस तीसरी टोलीमें खेल रहे हैं। आप उसी टोलीमें जाइये। उस टोलीमें मोरपंखधारी, हमारे जीवनधन श्रीकृष्ण आपको निःसंदेह मिल जायँगे।'

श्रीदेवचन्द्रजी अत्यन्त प्रसन्न हो गये और तीव्र गतिसे उस टोलीकी ओर बढ़ चले।

सूर्यकी किरणें समस्त आकाशमण्डलको अपने स्वर्णिम जालसे घेरनेका प्रयत्न कर रही थीं। गायोंके झुंड हरी-भरी वनस्थलीमें चारों ओर बिखरे हुए थे। बाल-गोपाल बछड़ोंको घेरकर यमुनाके किनारे पानी पिला रहे थे। कुछ ग्वाल-बाल वृक्षोंकी सघन डालियोंके ऊपर बैठे गीत गा रहे थे। कुछ गोपकुमार मोटी डालियोंपर अपनी-अपनी पगड़ियोंके झूले डाले बारी-बारीसे झूल रहे थे। कुछ वृक्षोंकी शीतल छायामें बैठकर वंशी और अलगोजे बजा रहे थे, कुछ मंजीरे तथा ढप (डँफ) बजाते थे और कुछ आनन्दमत्त नृत्य कर रहे थे। निकटमें ही एक उच्चस्थ शिलापर अनेक भाँतिकी बालक्रीडाओंके मध्य, लताबितानकी सघन-शीतल छायामें यशोदानन्दन, मदनमोहन श्रीकृष्ण बैठे हुए छाक (कलेवा)की प्रतीक्षा कर रहे थे। उन्होंने तीव्रतासे अपनी ओर आते हुए श्रीदेवचन्द्रजी-को देख लिया। अपने परमभावुकभक्त, निजानन्द स्वरूप देवचन्द्रजीको देखते ही उनका हृदय प्रसन्नता-से अत्यन्त पुलकित हो उठा। वे आनन्दविह्वल हो एकदम उठ बैठे। श्रीकृष्णको सहसा उठते देखकर समूहोंमें इधर-उधर बिखरे हुए अनेक गोपकुमार दौड़कर उनके सन्निकट आ खड़े हुए और पूछने लगे—'कन्हैया, कन्हैया ! क्या बात है ?'

श्रीकृष्ण तो देवचन्द्रको अपनी ओर आते दूरसे देखकर ही इतने आनन्दविभोर हो गये कि गोप-कुमारोंकी बातोंका उत्तर दिये बिना ही वे एकदम दौड़ पड़े और उन्होंने श्रीदेवचन्द्रजीको समीप पहुँचते-पहुँचते अपनी दोनों भुजाएँ फैलाकर कसकर आलिंगनमें भर लिया। श्रीकृष्णको अचानक आतुरतापूर्वक दौड़ते देखकर किसी अनिष्टकी आशङ्कासे व्याकुल हो दूरस्थ अन्य गोपकुमार भी अपनी-अपनी लाठी, कुल्हाड़ी, कमली, डपली, ढोलक, मंजीरे, अलगोजे तथा वंशी आदि खेलने तथा वनमें काम आनेवाली सभी सामग्रियों-को इधर-उधर वहीं बिखरी छोड़कर आतुर भावसे दौड़-दौड़कर श्रीकृष्णका अनुसरण करने लगे। लेकिन गोपकुमारोंने देखा कि कन्हैया तो एक अधेड़ पुरुषके ललाटसे टपकती हुई बूँदोंको अपने उत्तरीयसे पोंछ रहा है। उसके पैरोंकी धूलिको बड़े प्रेमसे अंगोछ (अंगोंसे लगा) रहा है तथा उसे बार-बार अपने वक्षसे लगा-लगाकर अपूर्व आनन्दमें निमग्न हो रहा है। यह अभूतपूर्व, अप्रतिम प्रेममय दृश्य देखकर गोपकुमार प्रेमानन्दसे आह्लादित हो उठे। वे सभी कौतूहलवश, मौन तथा जिज्ञासु भावसे खड़े रहकर अपने बालसखा कृष्णका यह हृदयहारी कौतुक-दृश्य देखते रहे।

श्रीकृष्णचन्द्र देवचन्द्रजीका हाथ पकड़कर बड़े प्रेमसे अपनी टोलीमें ले आये और उस ऊँचे शिलाखण्डपर प्रेमपूर्वक बैठाकर उनसे कुशल-क्षेम पूछने लगे। निकट ही गोपकुमार कलेवाके लिये गेहूँको दूधमें उबालकर घूघरी बना रहे थे। कुछ गोपबालक भट्ठीमें लकड़ियाँ लगा रहे थे, कुछ इधर-उधरसे बटोरकर संग्रह किये हुए सूखे उपले भट्ठीमें डाल रहे थे, कुछ गोपकुमार आगको तेज करनेके लिये अपनी कमलियोंका विजना बना हवा दे रहे थे। तभी श्रीकृष्णने बालमित्रोंसे कहा—'भैया, हमें बहुत भूख लगी है, जल्दीसे पहले हमारे दो हिस्से लगाकर हमें कुछ खानेको दो।'

कलेवा करनेके लिये पाँत बैठ गयी। सभी गोपकुमार मण्डलाकार बैठकर अपनी-अपनी पत्तलें अपने-अपने सामने बिछा, प्रसन्न होने लगे। मध्यमें श्रीदेवचन्द्रजीने यशोदा मैयाके दिये हुए पक्वान्नोंकी पोटली खोली और श्रीकृष्णके सामने रख दी। गोपकुमार ताजे मधुर, स्वादिष्ट, पक्वान्नोंको देख तथा उनकी सौंधी मनमोहक सुगन्धका अनुभव कर मोदमें मत्त हो उछल-उछलकर नाचने-कूदने लगे। श्रीकृष्णने उस मधुरान्नमेंसे अपने दो भाग ले लिये और शेष घूघरीके साथ समस्त बालसखाओंको वितरित करवा दिया। बालकृष्णके साथ श्रीदेवचन्द्रजी प्रेममें विभोर होकर ज्यों ही घूघरीके साथ मिठाई आरोगने लगे, त्यों ही उनका ध्यान एकाएक भंग हो गया, उन्हें अनुभव हुआ कि वे अपनी कुटियामें पूर्ववत् ही प्रभु-सेवामें संलग्न, आसन लगाये ज्यों-के-त्यों बैठे हुए हैं। राजभोग भी ज्यों-का-त्यों रखा हुआ था। उनके नेत्रोंसे प्रेमाश्रुओंका अनवरत प्रवाह फूट पड़ा, उनका अङ्ग-प्रत्यङ्ग आनन्दघन नीलमणि यशोदानन्दनकी बाल-केलिकी अद्‌भुत छटाका दर्शन कर प्रेमानन्दसे सराबोर हो गया। उन्होंने निश्चय किया कि जिस पूर्णब्रह्म, परमानन्दमय परमात्म-तत्त्वकी खोजमें मैं अभीतक भटकता रहा हूँ, वह तो साक्षात् ब्रह्म-लीलाधाम, श्यामसुन्दर श्रीकृष्ण ही हैं, जो सदा मेरे अति निकट हैं।

श्रीदेवचन्द्रजी पुनः ध्यानस्थ होकर अपने आराध्य-बालमुकुन्द प्रभुको भोग लगानेमें तल्लीन हो गये। अब तो उनके अन्तःकरणमें अपने परम-प्रियतम, परमाराध्य श्रीकृष्णकी बाललीलाओं एवं व्रजमाधुरीके दिव्य-दर्शनका पूर्ण प्रकाश होकर परमानन्दसिन्धु उमड़ उठा। उनके हृद्तलमें व्रज-लीलाभावका दिव्य-मधुर प्रकाश होनेसे लीला-स्मृतियोंकी रसमयी उर्मियाँ तरंगित होने लगीं। समय-समयपर वे अपने मनोराज्यमें परात्पर पूर्णब्रह्म, लीलाविहारी, श्रीकृष्णकी व्रजलीलाओंके नित्यनव दर्शन-लाभ करते हुए एकदिन 'स्व'को मिटाकर उस अचिन्त्य, शाश्वत, सौंदर्य-माधुर्य-निधि, रसमय परमतत्त्व श्रीकृष्णमें तद्‌रूप हो गये।

इस प्रकार उनकी भावमयी सेवा-साधना सफल (सिद्ध) हो गयी। अपने आराध्यको समर्पित उनका जीवन धन्य हो गया।

व्रजका सुख

तद् भूरिभाग्यमिह जन्म किमप्यटव्यां यद् गोकुलेऽपि कतमाङ्घ्रिरजोऽभिषेकम्।
यज्जीवितं तु निखिलं भगवान् मुकुन्दस्त्वद्यापि यत्पदरजः श्रुतिमृग्यमेव॥

(श्रीमद्भा० १०।१४।३४)

श्रीब्रह्माजी कहते हैं—'भगवन्! मुझे इस धरातलपर व्रजमें—विशेषतः गोकुलमें किसी साधारणजीवकी योनि मिल जाय, जिससे मैं गोकुलवासियोंकी चरण-रजसे अपने मस्तकको अभिषिक्त करनेका सौभाग्य प्राप्त कर सकूँ, जिन गोकुलवासियोंके जीवन सम्पूर्णरूपसे आप भगवान् मुकुन्द हैं, उनकी चरण-रजको अनादिकालसे आजतक श्रुतियाँ खोज रही हैं (परंतु पाती नहीं हम उसीके लिये लालायित हैं।)'

रामहरि भट्टाचार्य

[भक्तगाथा]

रामहरि भट्टाचार्य बंगालमें काल्नाके निकट हाँसपुकुर ग्राममें रहते थे। यजमानीकी जीविका थी। घरमें साध्वी स्त्री और एक पुत्रके सिवा और कोई नहीं था। रामहरिका हृदय भगवद्विश्वाससे भरा रहता था। उनका सबके साथ प्रेमका सम्बन्ध था। संसारमें उनका कोई शत्रु न था। थोड़ी-सी जमीन और यजमानोंकी स्वेच्छा-पूर्वक दी हुई दक्षिणाकी आमदनीसे उनका परिवार अच्छी तरह पल जाता था। वे प्रतिवर्ष भादोंमें घरसे निकलते और कई गाँवोंमें यजमानोंके यहाँ घूम-फिरकर जो कुछ मिलता, उसे लेकर आश्विन आते ही घर लौट आते थे। बड़े संतोषी और शान्तवृत्तिके ब्राह्मण थे रामहरि महाराज। ब्राह्मणको ऐसा ही होना चाहिये।

वे सदाकी भाँति उस वर्ष भी भादों आते ही घरसे निकल पड़े। उस साल बरसात देरसे शुरू हुई थी, इसलिये इन दिनों आकाश लगातार काली घटाओंसे घिरा रहता और रोज ही वृष्टि होती। रामहरि महाराजने इन 'दुर्दिनों'की* ओर कोई ध्यान नहीं दिया और वे भगवान्का नाम लेकर सदाकी भाँति एक गाँवसे दूसरे गाँवमें जाने-आने लगे।

बर्दवानसे काल्नातक पक्की सड़क है। एक दिन संध्यासे कुछ ही पूर्व रामहरि महाराज उसी सड़कपर द्रुतगतिसे बढ़े चले जा रहे थे। गाँव अभी चार कोस आगे था। आँधी-पानीसे भरी भयावनी रातके डरसे बचनेके लिये वे दौड़-से रहे थे। वे शरीरका पूरा बल लगाकर तेजीसे दौड़ने लगे। चिन्ता और डरसे उनका शरीर काँप रहा था। रात बढ़ गयी और आँधी-पानी आ गया था, तूफानके शान्त होनेका कोई लक्षण नहीं दीख रहा था। वर्षाकी गति और भी तीव्र हो गयी। आँधीके झटकेसे बड़े-बड़े वृक्षोंकी डालियाँ टूट-टूटकर गिर रही थीं और उनपर बैठे हुए पक्षी आर्तस्वरसे चिल्ला रहे थे। इससे रात और भी भयङ्कर लग रही थी। रामहरि किसी और ओर न देखकर विपत्तिहारी श्रीभगवान्का नाम-स्मरण करते हुए जोरसे बढ़े चले जा रहे थे। रातभर कहीं आश्रय मिल जाय, बस, उन्हें इसी बातकी चिन्ता थी। इसी बीच पास ही बड़े जोरसे कड़ककर बिजली गिरी। रामहरिजी काँप गये। आकाशको चीरती हुई विद्युत्-शिखा उनकी दोनों आँखोंको मानो वेधकर आकाशमें विलीन हो गयी। रामहरिजी एक पेड़के नीचे खड़े हो गये। उनके मुखसे विपद्विदारी भगवान्का नाम अनवरत निकल रहा था। इतनेमें ही अकस्मात् उन्हें जंगलमें मनुष्यका कण्ठस्वर सुनायी दिया। रास्तेकी बगलमें ही बीहड़ जंगल था। लालटेनकी रोशनी भी दिखायी दी। रामहरिने देखा, दो मनुष्य धीरे-धीरे उन्हींकी ओर आ रहे हैं। मनुष्योंको देखकर उन्हें बड़ी सान्त्वना मिली। उन्होंने बड़े जोरसे चिल्लाकर उनको पुकारा और अपने पास आनेके लिये प्रार्थना की। उनकी पुकार सुनते ही वे दोनों जल्दी-जल्दी चलकर उनके पास आ पहुँचे। वे साधारण ग्रामीण-से लगते थे, उनके शरीर मजबूत और बलवान् थे। उनके एक हाथमें लालटेन और छाता तथा दूसरेमें लंबी लाठी थी। रामहरिजी उन्हें देखकर मन-ही-मन कुछ डरे। रुपये-पैसे पास होनेपर डर लगता ही है। चील मांसको देखकर ही पीछे लगती है। इसी प्रकार चोर-डकैत भी रुपयोंके ही पीछे लगा करते हैं। कुछ भी हो, दूसरा कोई उपाय

* मेघसे आच्छन्न दिनको दुर्दिन कहते हैं—'मेघच्छन्नेऽह्नि दुर्दिनम्।' (अमरकोश)

नहीं था । रामहरिजीने कहा—'भाइयो ! मैं गोविन्दपुर जाऊँगा, पर दिन बहुत खराब हो गया, इसलिये रात-ही-रात वहाँ पहुँचना कठिन है । आप लोग दया करके मुझे पासके किसी गाँवमें पहुँचा दें तो बड़ी कृपा हो ।' रामहरिजीकी बात सुनकर उनमेंसे एकने विनयके साथ कहा—'पण्डितजी, हमारा घर यहाँसे बहुत नजदीक है, आप यदि रातभर हमारे घर विश्राम करें तो आपको कोई कष्ट नहीं होगा । हम भी अपना अहो-भाग्य समझेंगे । प्रातःकाल आपको जहाँ जाना हो, चले जाइयेगा ।' उनके विनीत वचनोंसे रामहरिजीका भय दूर हो गया और वे उनके पीछे-पीछे चलकर एक टूटी इमारतके सामने आकर खड़े हो गये । उनमेंसे एकने जोरसे पुकारा—'अरे धन्ना !' जब द्वार नहीं खुला, तब वे दोनों जोर-जोरसे 'धन्ना ! ओ धन्ना !' पुकारने लगे । कुछ देरके बाद दरवाजा खुला और एक भीषण आकृतिका नवयुवक बाहर निकल आया !

युवकको देखकर एकने कहा—'धन्ना ! आजकी यात्रा सफल हुई—अतिथि-सत्कारका अवसर मिल गया !' धन्नाने तीक्ष्ण दृष्टिसे रामहरिजीकी ओर देखकर कहा—'तब भोजनकी व्यवस्था करूँ ?' रामहरिजी उनका रंग-ढंग देखकर समझ गये कि जरूर दालमें काला है । उनका हृदय धड़कने लगा और वे मन-ही-मन आर्तभावसे संकटहारी भगवान्‌का स्मरण करने लगे; परंतु बाहरसे इस भावको छिपाकर उन्होंने इतना ही कहा—'मैं आज कुछ भी नहीं खाऊँगा, और वर्षा थम गयी तो रातको ही चला भी जाऊँगा ।' धन्नाने उनकी बात सुनकर कुछ नहीं कहा और उन्हें खींचकर अंदर ले गया । वे दोनों मनुष्य भी पीछे-पीछे अंदर चले गये । अप्रत्याशित बातें होने लगीं !

रामहरिजीने देखा, चारों ओर जंगल-सा है, बगलमें एक ही घर है । धन्ना रामहरिजीको घरके बीचकी एक कोठरीमें ले गया और उन्हें तख्तेपर विश्राम करनेके लिये कहकर वहाँसे चल दिया । रामहरिजी तख्तेपर बैठे थर-थर काँपते हुए सोच रहे थे—'हाय ! किस अशुभ मुहूर्तमें घरसे निकला ! जंगलमें इनसे सहायता ही क्यों चाही ? आज इन डकैतोंके हाथोंसे प्राण नहीं बचेंगे ।'

बगलकी कोठरीसे बातचीतकी आवाज सुनायी दी । बीचमें एक पतली-सी दीवाल थी, इससे प्रायः सभी बातें उन्हें सुनायी पड़ रही थीं । उन्होंने कण्ठ-स्वरसे पहचान लिया कि बातचीत करनेवालोंमें दो व्यक्ति वही हैं, जो जंगलमें मिले थे, और तीसरा धन्ना है । बातचीतके सिलसिलेमें पता लगा कि उन दोनोंके नाम हाराण और तीनकौड़ी हैं तथा धन्ना हाराणका लड़का है । हाराणने कहा—'देखो, तीनकौड़ी ! मालूम होता है ब्राह्मण है, गलेमें जनेऊ है; फिर ब्रह्महत्याका पाप लगेगा ।' तीनकौड़ी बोला—'चलो, तुम भी बड़े डरपोक हो । अरे ! गाड़ेमें सूपका क्या भार । अबतक ऐसे कितने ब्राह्मणोंका पाप लगा होगा । एक और सही । इसके पास पैसे तो काफी मालूम होते हैं ।' धन्ना बीचमें ही बोल उठा—'तुमलोगोंको कुछ भी चिन्ता नहीं करनी पड़ेगी । एक ही चोटमें काम तमाम ! बस, जरा उसे नींद तो आ जाय ।' हाराणने कहा—'चुप रह ! इतना चिल्लाता क्यों है ? सुन लेगा तो कहीं सरक निकलेगा ।' धन्नाने कहा—'भागेगा कहाँ ? इन हाथोंमें पड़कर भाग निकलना इतना आसान नहीं है ।' बातचीत सुनकर रामहरिजीके तो प्राण सूख गये । मनमें आया, भाग निकलूँ, पर धन्नाके शब्द याद आ गये । सोचा, वह सब ओर देखता होगा । फिर, इस अनजान जंगलमें भागकर भी कहाँ जाऊँगा ? ये दुष्ट तुरंत ही ढूँढ़कर मार डालेंगे ।

बाहर अब भी मूसलधार वृष्टि हो रही थी । वर्षाकी झड़ीकी तेजी तो कुछ घटी थी, परंतु अभी और सब बातें वैसी ही थीं । घरके बीचमें अन्धकारमय आकाशका कुछ भाग दीख पड़ता था । क्षण-क्षणमें बिजली कौंधती

थी और साथ ही दूरसे विद्युत्पातकी भीषण ध्वनि सुनायी पड़ती थी——मानो रामहरिजीके लिये मृत्युका समाचार लेकर आ रही हो। पास ही एक कदम्बका वृक्ष था। उसकी पुष्पित शाखाओंसे स्निग्ध सुगन्ध लेकर बीच-बीचमें ठंडे पवनका झोंका आ जाता था। रामहरिजीको अपने प्रभु श्यामसुन्दरके मन्दिरकी बगलका कदम्ब-वृक्ष याद आ गया। अहा! उसमें भी हजारों फूल खिले होंगे और वर्षासिक्त वायु उनकी स्निग्ध गन्धको भी इसी प्रकार सब ओर बिखेर रही होगी। मेरी धर्मपत्नी बच्चेको हृदयसे लगाकर निद्रामें मेरे लौटनेका स्वप्न देख रही होगी। और, मेरे प्राणधन श्यामसुन्दर! मेरी बड़ी साधनाके, महती आकांक्षाके स्वामी श्यामसुन्दर! हाय! आज यदि मैं इस सुनसान जंगलमें डाकुओंके हाथों मारा गया तो हे मेरे प्रभु! मेरे जीवनधन! फिर तुम्हारी पूजा-अर्चा कौन करेगा? मैं जिन ब्राह्मणों-को पूजाका भार दे आया था, मेरी अनुपस्थितिमें पता नहीं, वे सुचारुरूपसे तुम्हारी पूजा कर रहे हैं या नहीं। हा! श्यामसुन्दर! तुम तो पाषाणकी मूर्तिमात्र नहीं हो, तुम्हारे उस नीलकमल-से साँवरे शरीरमें अनन्त करुणामयी दिव्य चिच्छक्ति नित्य विराजमान है और निरन्तर आर्त प्राणियोंका कल्याण कर रही है। बोलो, बोलो, मेरे प्राणधन! मेरे सर्वस्व! तुम्हारे इस शरणागत दीन ब्राह्मणका यह नश्वर शरीर इस अज्ञात अरण्यमें क्या सियार-कुत्तोंके खानेके काममें आयेगा?' रामहरिजीके नेत्रोंसे आँसुओंकी धारा बह चली। वे उन्मत्तकी भाँति 'श्यामसुन्दर! श्यामसुन्दर!' कहकर करुण क्रन्दन करने लगे।

बगलकी कोठरीमें तीनकौड़ी और हाराण बातचीतमें लगे थे। उनकी नजर ब्राह्मणपर लगी थी, पर थकावटके कारण इन्हें बीच-बीचमें जँभाइयाँ आ रही थीं। आखिर उन लोगोंने यही निश्चय किया कि धन्नाके हाथसे यह काम नहीं कराना है। हाराणने कहा, तब मैं ही काम निपटाऊँगा। देखूँ, ब्राह्मण सो गया या नहीं। कोई आवाज तो नहीं सुनायी देती, यह कहकर हाराणने जाकर देखा। रामहरिजी उस समय प्राणभयसे व्याकुल हुए भींगी चादर ओढ़े दुबके पड़े थे। मन-ही-मन श्यामसुन्दरकी करुण-प्रार्थना चल रही थी। हाराणने देखकर धीरेसे कहा——'तीनकौड़ी! नींद तो आ गयी है इसे, फिर देर क्यों करें।' तीनकौड़ी——'शायद जागता हो, कुछ और ठहर जाओ।'

रामहरिजी तो सुन-सुनकर सूखे जा रहे थे। सोच रहे थे, अब मृत्युसे बचनेका कोई उपाय नहीं है। प्रभु! यह क्या हो गया? अकस्मात् ब्राह्मणमें मानो असीम बल आ गया। कदम्बका वृक्ष उस घरमें चूल्हेके पास ही था। बरसातके कारण उसमें पत्ते खूब आ गये थे। पेड़ बहुत घना और विशाल था। पत्तोंकी आड़में छिपनेकी पर्याप्त जगह थी। रामहरिजी चादर छोड़कर धीरे-धीरे उठे और तुरंत पेड़पर चढ़कर छिप गये।

इधर ताड़ी (शराब) पीते-पीते नशेमें ही हाराणने कहा——'धन्ना, आज तुझे खाण्डा नहीं चलाना पड़ेगा। यह ब्रह्मयज्ञ मैं ही करूँगा। मालूम होता है अब गहरी नींदमें है।' मन-ही-मन झल्लानेपर भी धन्ना बोला नहीं। हाराणने धन्नाके हाथसे खाण्डा लेकर धार देखी। फिर तीनों मिलकर ताड़ी-पर-ताड़ी पीने लगे। नशा बढ़ने लगा। धन्ना कुछ ज्यादा पी गया। उसे नींद आने लगी। झूमता हुआ वह बाहर निकला और जिस तख्तेपर रामहरिजी सोये थे, वहीं जाकर उन्हींकी चादर ओढ़कर पड़ गया। नशेमें उसे अपनी करनीका कुछ भी पता नहीं था। वह बेहोश था। तीनकौड़ी और हाराणने हरी मिर्च और सत्तूकी चाट मुँहमें लेकर फिर ताड़ी चढ़ानी शुरू की। अब पूरा नशा हो गया।

झूमता हुआ हाराण धार दिये हुए खाण्डेको लेकर बगलकी कोठरीमें पहुँचा। रामहरिजी कदम्बपर चढ़े

कोठरीमें रक्खी हुई लालटेनकी मामूली रोशनीके उजियालेमें भयचकित नेत्रोंसे देख रहे थे और मन-ही-मन अपने आराध्यदेव श्यामसुन्दरको पुकार रहे थे।

हाराण और तीनकौड़ीने समझा—तख्तेपर ब्राह्मण सोया है। नशेमें चूर थे। हाराणने पूरा जोर लगाकर खाण्डा चलाया और उसी क्षण धन्नाका सिर धड़से अलग होकर धड़ामसे नीचे गिर पड़ा !

अब जो दृश्य उपस्थित हुआ, उसे याद करते ही हृदय काँपता है। हाराण और तीनकौड़ीने भयभरी आँखोंसे देखा—'अरे, यह तो धन्नाका सिर है ?' बस, उसी क्षण सारा नशा उतर गया और खाण्डेको दूर फेंककर हाराण अपने प्यारे पुत्र धन्नाके सिरको छातीसे लगाकर पागलकी भाँति रोने लगा। तीनकौड़ीने इधर-उधर ब्राह्मणको बहुत खोजा, पर कहीं पता नहीं लगा। रामहरिजी तो प्राणभयसे अत्यन्त व्याकुल होकर श्यामसुन्दर प्रभुका स्मरण करने लगे। उस समय उनका स्मरण किन-किन भावोंसे होता होगा, इसका अनुमान वैसी स्थितिमें स्वयं पड़े बिना नहीं लगाया जा सकता। धन्नाके शवको लेकर जब वे लोग टूटे घरसे निकलकर जंगलमें चले गये, तब ब्राह्मणके प्राणोंमें प्राण आये। तबतक वृष्टिकी झड़ी बहुत कम हो चुकी थी और रात भी थोड़ी ही शेष थी। ब्राह्मणदेवता धीरेसे पेड़से उतरे और इधर-उधर सतर्क दृष्टिसे देखते हुए वहाँसे निकलकर चल दिये। भगवान्‌की कृपासे उन्हें रास्ता मिल गया। हाराण और तीनकौड़ी दूसरी ओर गये थे। इसलिये इनपर कोई विपत्ति नहीं आयी।

कुछ दूर धीरे-धीरे चलकर फिर रामहरिजी दौड़े और पक्की सड़कपर पहुँच गये। उस समय कई लोगोंका और भी साथ हो गया। रामहरिजी भगवान् श्यामसुन्दरका मन-ही-मन गुण गाते हुए सीधे घर पहुँचे। बस, तबसे उनका समग्र जीवन अपने आराध्य प्रभुके लिये पूर्ण समर्पित होकर भगवान्‌के भजनमें ही बीता।

भक्तोंकी रक्षा भगवान् कैसे करते हैं—यह इससे स्पष्ट है। उन्होंने गीतामें ठीक ही तो कहा है—**'न मे भक्तः प्रणश्यति।'** किंतु, दुष्टोंको दण्ड भी कैसे मिल जाता है—यह भी यहाँ देखा गया। भगवान्‌का साधु-सज्जन जीवोंपर अनुग्रह और दुर्जन-दुष्टोंपर निग्रहका निदर्शन इस कहानीसे अभिव्यञ्जित है। धन्य हैं, भगवान् !

यह हरियाली सावन

ब्रजपर उनई आजु घटा।
नइ नइ बूँद सुहावनि लागति, चमकति बिज्जु छटा॥
गरजत गगन मृदंग बजावत, नाचत मोर नटा।
गावत हैं सुर दै चातक पिक, प्रगट्यौ मदन घटा॥
सब मिलि भेंट देत नंदलालैं, बैठे ऊँच अटा।
'चत्रभुज' प्रभु गिरधरन लाल सिर, कसुंभी पीत पटा॥

—श्रीचतुरभुजदासजी

× × ×

हरषि झुलाइये मनभावन।
उघरि पर्‍यो हित हेत गहगहो, झूठ कियो चित-चावन॥
यह जो कल्पतरु, यह रविजा-तट, यह बन घन झुक आवन।
वृन्दावन हितरूप, बलि गई, यह हरियाली सावन॥

—चाचा हितवृन्दावनदास

अमृत-बिन्दु

भगवान् भक्ति-भावके भूखे हैं। भक्तद्वारा भेंट की जानेवाली वस्तु बहुमूल्य है अथवा तुच्छ—इसकी ओर भगवान्‌की दृष्टि नहीं जाती।

*　　*　　*　　*

संसारको अपना माननेसे 'अन्ययोग' एवं परमात्माको अपना माननेसे 'अनन्ययोग' सिद्ध होता है।

*　　*　　*　　*

जो भोगोंमें मौज मानता है, वह बार-बार मौतके मुखमें पड़ेगा, यह निश्चित है।

*　　*　　*　　*

संयमी पुरुष ही नीरोग, बलवान्, धर्मात्मा, दीर्घायु और मोक्षके योग्य होता है।

*　　*　　*　　*

संतोंके सङ्गसे पापोंका नाश, अन्तःकरणकी शुद्धि और संशयोंका उच्छेदन होकर भगवत्प्राप्ति होती है।

*　　*　　*　　*

स्वार्थ, हँसी-मजाक तथा भविष्य-कथनमें प्रमादतः भी किसी प्रकारका झूठ नहीं बोलना चाहिये।

*　　*　　*　　*

जैसा, जो कुछ देखा-सुना-समझा हो, वैसा ही पर-हितकी दृष्टि रखकर यथार्थ कहना 'सत्य' है।

*　　*　　*　　*

जो पुरुष पर-स्त्रीमात्रमें मातृ-बुद्धि रखता है, उसके तेज, तपकी वृद्धि होती है और वह पापोंसे बचकर भगवान्‌को प्राप्त कर सकता है।

*　　*　　*　　*

मिट्टी, जल आदिसे शरीरकी, शुद्ध व्यवहार एवं आचरणोंसे आचार-व्यवहारकी और राग-द्वेषादिके त्यागसे अन्तःकरणकी शुद्धि होती है।

*　　*　　*　　*

सच्चे भावसे सेवा करनेवालेको सेवा करनेकी शक्ति तथा सामग्री स्वतः प्राप्त हो जाती है।

*　　*　　*　　*

जो पुरुष परमात्माकी तरफ आकृष्ट हो गया, वह निहाल हो गया।

*　　*　　*　　*

नित्यप्रति दृढ़ निश्चयके साथ अपने इष्टदेवके ध्यानका अभ्यास अवश्य करना चाहिये।

*　　*　　*　　*

जिस दानमें जितना ही अधिक स्वार्थ-त्याग होगा, उसका महत्त्व उतना ही अधिक होगा।

*　　*　　*　　*

सर्वथा निष्कामभावसे भक्ति करनेवाले भक्तके भगवान् भी ऋणी हो जाते हैं।

*　　*　　*　　*

द्विजातिमात्रको दो समय तो संध्या अवश्य ही करनी चाहिये; क्योंकि संध्याके द्वारा परमात्माकी सूर्य, अग्नि और जलरूपसे उपासना होती है।

[संकलित]

पढ़ो, समझो और करो

(१)

भगवत्कृपाका अपूर्व दर्शन

दैनिक जीवनमें प्रायः ऐसी घटनाएँ घटित हो जाती हैं, जो इस कलियुगमें भी ईश्वरीय महिमा और दैवी-चमत्कारका दिग्दर्शन कराती हैं। इन घटनाओंको देखकर या सुनकर नास्तिक भी बहुधा आस्तिक तथा भगवद्विश्वासी हो जाते हैं एवं आस्तिक परम पिता परमेश्वरकी अद्भुत लीलाओंका अनुभव-कर परम प्रसन्न होते हैं। इसी प्रकारकी घटना मध्यप्रदेश के सतना जिलेकी अनदरा तहसीलके अखेरासानी गाँवमें १७ मई १९७८ को घटित हुई।

घटना इस प्रकार है कि एक ग्रामीण गर्भवती महिला सूर्यास्तके समय शहरसे मजदूरी करके गाँवकी ओर आ रही थी। रास्तेमें उसे असह्य प्रसववेदना अनुभूत हुई। वेदनापीड़ित वह स्त्री रात्रिके धुँधले अंधकारमें शहरके बाहरतक ही पहुँच पायी थी कि दुर्भाग्यवश रास्तेको पार करते समय रास्तेके दूसरी ओर स्थित बिना जगतके एक अन्धे कुएँमें गिर गयी। दैवयोगसे कुएँमें ही उस महिलाने एक पुत्रीको जन्म दिया। महिलाने कुएँमें ही सम्पूर्ण रात्रि दीवारके सहारे गुजार दी। कुएँमें पानी भी काफी था। सुबह कुछ राहगीर वहाँसे गुजरे तो कुएँसे उस महिलाका करुण-क्रन्दन सुनकर तुरंत पासके गाँवमें जाकर इसकी सूचना दी। सूचना पाते ही ग्रामवासियोंका एक दल सहायतार्थ वहाँ आ पहुँचा। तदनन्तर महिला एवं नवजात कन्याको सकुशल बाहर निकाल लिया गया। यह देखकर सभी दंग रह गये कि कुएँमें अधिक पानी रहनेपर भी उन दोनों प्राणियोंकी रक्षा किस प्रकार हो सकी! भगवत्कृपासे माँ और बालक आज भी स्वस्थ हैं।

घटनास्थलपर एकत्र विशाल जन-समुदायने इसे ईश्वरकी यह अनुपम लीला मानी। यह घटना इस सत्यको सहज और सबलरूपमें उद्घाटित तथा प्रमाणित करती है कि—'अरक्षितं तिष्ठति दैव-रक्षितम्।'

—गोपालकृष्ण कठिल

(२)

सुन्दरकाण्डके प्रभावसे रोगमुक्ति

मेरे दादाजी डॉ० मदनलाल गोयनका चूरू (राजस्थान)के रहनेवाले थे। वे तथा उनके सुपुत्र डॉ० मोतीलाल गोयनका (मेरे पिताजी) तो आस्तिक और धार्मिक आचार-विचारके थे; किंतु तीसरी पीढ़ीमें मैं नास्तिकतावादी हो गया। भगवान्‌के नामसे चिढ़ थी। हमेशा आधुनिक रंगमें रँगा रहा। मेरा जन्म सन् १९३७में चूरूमें हुआ। पढ़कर १९५९ में कलकत्ता आया। १९५९ से १९७५ तक 'बिड़ला ब्रदर्स'में काम किया। ६ मार्च १९७५ को अचानक तबीयत खराब हो गयी। मार्च १९७५से नवम्बर १९७७ तक मेरा मस्तिष्क खराब रहा। कलकत्ताके बड़े-बड़े डाक्टरोंसे तथा दिल्ली, मेरठ, चूरू आदि स्थानोंके सुप्रसिद्ध चिकित्सकोंसे औषधोपचार कराया। एलोपैथिक, होम्योपैथिक, आयुर्वैदिक दवाएँ और उपचार तथा जंतर-मंतर, झाड़-फूँक—सभी कुछ किया कराया गया, किंतु कोई लाभ नहीं हुआ। इस बीच दवा तथा उपचारमें लगभग अस्सी हजार रुपये लग गये। काम छूट गया। एक पैसा कहींसे मिला नहीं। परिवारमें हम छः प्राणी थे। पिताजी रिटायर हो गये थे। माताजीको मेरी चिन्तामें हृदयकी बीमारी हो गयी। चारों तरफ अन्धकार-ही-अन्धकार दृष्टिगोचर होता था।

एक दिन दुःखी और अत्यन्त निराश होकर मैं आत्महत्याके विचारसे 'दक्षिणेश्वर' गया। माँ कालीके दर्शन किये। वहीं एक साधु कोनेमें बैठा था, बोला—'बेटा! तुम दुखी हो, यह दुःख तुम्हारे अपने ही कारण है। भगवान्‌पर विश्वास रखो। घर वापस लौट जाओ और नित्यप्रति सुन्दरकाण्डका पाठ किया करो, सब ठीक

हो जायगा। विश्वास तो था नहीं, पर मरता क्या न करता। पण्डितजीसे पाठ शुरू कराया। ६ नवम्बर ७७ से विधिपूर्वक रामचरितमानसके सुन्दरकाण्डका पाठ आरम्भ हुआ। ७ नवम्बरसे ही मन तथा स्वास्थ्यका ठीक होना शुरू हो गया। पाठकी पूर्णाहुति होते-होते भगवान् श्रीरामकी कृपासे पूर्ण स्वस्थ हो गया। तबसे भगवान्की कृपासे स्वास्थ्य, पैसा, काम सभी कुछ इतना सुन्दर है कि मनमें विचार होता है—'मुझ-जैसे नास्तिक आदमीपर जब भगवान्की इतनी दया है तो भगवद्विश्वासी भगवान्के अनन्य भक्तोंके ऊपर कितनी होती होगी।' मुझे लगता है कि मेरी आत्मशुद्धि तथा मेरे हितके लिये ही भगवान्ने मुझे मानसिक तथा शारीरिक कष्ट दिया, अथवा वह मेरे पूर्वकृत किन्हीं क्रूर कर्मोंका प्रभाव रहा होगा, जो कि सुन्दरकाण्डके अनुष्ठानके प्रभावसे शान्त हो गया और मुझे सब प्रकारका समाधान मिला।

—रतनजी गोयनका

(३)

दानवताके बदले मानवता

विक्रम-संवत् १९८८ की बात है। धोराजीके समीप छाड़वावद गाँवमें भगा ठक्करकी छोटी-सी झोंपड़ी थी। भगा ठक्कर गाँवमें 'भगत'के नामसे प्रसिद्ध था। उसका पुत्र रुगनाथ लुहाण किसी विषैले पदार्थके सेवनसे पागल-जैसा हो गया था। पड़ोसमें हरदास बापाका घर था। भगा ठक्कर और हरदास बापाके घरमें बहुत ही घनिष्ठ सम्बन्ध था।

रुगनाथ मस्तिष्ककी अस्थिरताके कारण गाँवमें और गाँवकी सीमामें घूमता रहता था। अपने शरीरका या कपड़ोंका कोई ध्यान नहीं रखता। ऐसी स्थितिमें लोग उसे 'रुगनाथ-पागल' कहने लगे।

एक दिन रात्रिके १२ बजे हरदास बापाकी पत्नी पुरीमाँ अपने ढाई वर्षीय पुत्र लक्ष्मणको गोदीमें लेकर सोयी थीं। रुगनाथके रात्रिमें इधर-उधर घूमनेकी बातसे ग्रामके लोग परिचित हो गये थे।

आज पागल रुगनाथ घूमते-घूमते जहाँ पुरीमाँ सोती थीं, वहीं चारपाईके पास आ पहुँचा। पुरीमाँ अर्ध-निद्रावस्थामें थीं।

रुगनाथने छोटेसे लक्ष्मणको चारपाईपरसे खींच लिया और एकदम समीप पड़े हुए बड़े पत्थरपर पटक दिया! लक्ष्मणकी चीख निकली; परंतु यह चीख आखिरी थी।

पुरीमाँ जागकर उठ बैठीं, इतनी देरमें तो रुगनाथ भाग चुका था। पुरीमाँने देखा कि उनके प्यारे पुत्रकी खोपड़ी फटी पड़ी है। ऐसा भयानक दृश्य होते हुए भी पुरीमाँने अपने बालकको गोदीमें उठा लिया।

आस-पासके लोग वहाँ आ गये। 'यह काम रुगनाथका ही किया हुआ है' ऐसा समझकर गाँवके दो-चार युवक रुगनाथको मारते हुए वहाँ ले आये। पुरीमाँने शान्तिभरे स्वरमें युवकोंसे कहा—'भाइयो! रुगनाथको कोई मारना मत। इसके हाथ मेरे लक्ष्मणकी मृत्यु हो गयी, पूर्वजन्ममें यह लक्ष्मणका शत्रु होगा।' परंतु युवक माने नहीं, उन्होंने रस्सीसे हाथ-पैर बाँधकर रुगनाथको कोठरीमें बंद कर दिया।

प्रातः पुलिस-थानेमें हरदास बापाने या पुरीमाँ दोनोंमेंसे किसीने भी रिपोर्ट नहीं की और न रुगनाथसे कोई बदला लेना चाहा, उलटे रुगनाथको पागलसे सीधा बनानेके प्रयत्न प्रारम्भ कर दिये गये। प्रतिदिन रात्रिको हरदास बापाके यहाँ रामायणकी कथा होती। गाँवके भावुकजन इस सत्संगका लाभ लेते। पुरीमाँ नित्य रात्रिमें रुगनाथको कथामें बुलातीं, आसनपर बैठातीं और सम्मानके साथ भोजन भी करातीं।

इस प्रकार पागल हुआ रुगनाथ छः महीनेमें धीरे-धीरे सत्संगके प्रभावसे स्वस्थ होता गया और उसने कुछ समय पश्चात् अपनी दुकानका काम पुनः प्रारम्भ कर दिया।

एक पागलकी क्रूरताकी यह घटना करुणा उत्पन्न करती है और कर्मवादपर पुरीमाँका विश्वास स्थिरकर दयाका संचार करती है।

—साधक आनन्दप्रसाद (अखण्ड आनन्द)

(४)

'जा पर कृपा राम की होई'

सन् १९७२ की बात है। हमारे ग्राम पूँछसे भादों-की सप्तमीको मथुरा और आस-पासके तीर्थोंमें भ्रमणके लिये लारी जा रही थी। ग्रामके बहुत-से वृद्ध नर-नारी तीर्थ जानेके लिये उत्सुक हो उठे और अपनी आवश्यक सामग्री जुटानेमें लग गये। हमारी माँके हृदयमें भी भगवान् श्रीकृष्णकी लीला-भूमि मथुरा-वृन्दावनके दर्शन करनेकी इच्छा प्रबल हो उठी और उन्हें मथुरा जानेकी लालसा सताने लगी। माताजीने पिताजीसे तीर्थ-भ्रमण करनेकी आज्ञा माँगी। पिताजीने जानेकी अनुमति दे दी। अब रही धनकी समस्या। वहाँ जानेके लिये कम-से-कम ७५ रुपयोंकी आवश्यकता थी, परंतु रुपये जुटाने-पर कुल ५५ रुपये ही जुट सके। ४० रु० पिताजीने दिये थे और १५ रु० माताजीके थे, जिन्हें उन्होंने अपने एक डिब्बेमें सहेजके रखा था और पाँच साल पहले ताला लगाकर पिताजीके सुपुर्द कर दिया था तथा उसकी कुंजी अपने बक्समें रख ली थी। पिताजी एक कमरेमें अपना कुछ आवश्यक सामान रखते थे, उसीमें माताजीका डिब्बा रख लिया था। उस कमरेकी कुंजी वे अपने पास रखते थे। उन रुपयोंकी पाँच सालतक माताजीको कोई जरूरत ही न पड़ी और न कभी पिताजीने माताजीके डिब्बेकी कुंजी लेकर देखा ही कि इसमें क्या है। माताजीने बताया कि जो हमारा डिब्बा आपके पास रखा है, उसमें १५ रु० रखे हैं और ४० रु० आप दे रहे हैं—इस प्रकार कुल ५५ रुपये हुए पर चाहिये ७५ रुपये। रुपयोंकी समस्या हल न हो सकनेके कारण माताजीने सोचा कि भगवान् शायद मेरी इच्छा पूरी करना नहीं चाहते और उन्होंने रातमें जानेका इरादा रद्द कर दिया। परंतु भगवान् तो उनकी अन्तर्भावना और उत्कण्ठासे परिचित थे। उनका प्रसिद्ध विरद है—'योगक्षेमं वहाम्यहम्।' भक्तके योगक्षेमका निर्वाह वे स्वयं करते हैं। प्रातः पिताजीने कहा कि जाना नहीं है तो उस डिब्बेमेंसे रुपयोंको तो निकाल लो। डिब्बेमें जंग लग गयी होगी, रुपयेमें भी क्षति पहुँच सकती है। पिताजी अपने कमरेसे डिब्बा उठा लाये और माताजीको दे दिया। माताजीने उसका ताला खोला और उसमेंसे कपड़ा उठाया जिसमें रुपये लपेटे रखे थे। कपड़ा खोला तो आँखें चमक-कर रह गयीं। सारे शरीरमें बिजली-सी दौड़ गयी और आश्चर्यसे उनके मुँहसे 'अरे यह क्या?' निकल पड़ा। तभी पिताजीकी नजर डिब्बेपर गयी। उसमें दस-दसके कई नोट कपड़ेमें देखकर वे अवाक् रह गये। कुछ क्षणोंके बाद पिताजीने उन नोटोंको हाथमें लिया और गिना तो ५० रुपये निकले। माताजीने कहा—'मैंने तो एक १० रु० का नोट और एक ५ रु० का नोट ही रखा था और ये दस-दसके नोट कहाँसे आ गये?'

जिस कमरेमें डिब्बा रखा था, वह कमरा जमीनमें दबा है; क्योंकि हमारा मकान गढ़ीके पास है, जिसके कारण कमरेमें नमी रहती है। इस प्रकार पाँच सालसे रखे रुपयोंमें नमी होनी चाहिये थी; परंतु उनमें नमी जैसी कोई चीज नहीं थी। नोट बिल्कुल नये थे, जैसे अभी बैंकसे आये हों। इस प्रकार भगवान्‌की यह लीला और कृपावत्सलता देखकर परिवारके सभी सदस्य प्रफुल्लित हो उठे। भगवान्‌की इस प्रकार प्रेरणा और कृपा होनेपर अब पिताजी भी भादोंकी सप्तमीको रिमझिम बरसती वर्षामें सानन्द मथुरा-यात्राके लिये रवाना हो गये तथा वहाँ पंद्रह दिनोंतक भगवद्दर्शन, उत्सव, स्नान आदिका आनन्द लेकर वापस आये।

इस घटनाके बाद पूज्य माताजीका अब अधिकांश समय भगवत्स्मरणमें व्यतीत होता है। हमें जब-जब यह घटना याद आती है, तब-तब ही भगवान्‌की अहैतुकी कृपा और उनकी महिमाके प्रति हमारा मस्तक श्रद्धापूर्वक सादर झुक जाता है। नास्तिक चाहे जो समझें; बातें सही हैं।

—आनन्दरामजी सोनी

श्रावणमासकी महिमा तथा इसके व्रत-अनुष्ठान

जैसे नदियोंमें गङ्गा, देवताओंमें भगवान् विष्णु, पर्वतोंमें हिमालय, यज्ञोंमें अश्वमेधकी महिमा है, उसी प्रकार द्वादश मासोंमें व्रतपूजनादिके लिये श्रावणका माहात्म्य है। स्कन्द, पद्मपुराणादिके चातुर्मास-माहात्म्य, श्रावणमास-माहात्म्य, रघुनन्दनके कृत्यतत्त्व, यति-धर्मसंग्रह-समुच्चय आदिमें चातुर्वर्ण्याश्रमोंके लिये इस मासके कर्म निर्दिष्ट हैं। इसमें शाकवर्जन, सोमवारव्रत, रोटकव्रत, रुद्राभिषेक, अखण्ड निर्दोष (चक्रवर्जित) बिल्वपत्रोंद्वारा शिवसहस्रनामसे शिवपूजन, दशाफलव्रत, श्रावण-गणेशचतुर्थी, शुक्लपक्षमें तृतीय नवरात्र, देवीपूजन, नागपञ्चमी, शीतलासप्तमी, एकादशी, दधिव्रत, पवित्रारोपण, श्रावणी, रक्षाबन्धन, झूलनोत्सव आदि अनुष्ठेय कृत्य मुख्य हैं; लिखा है कि—

श्रावणं नियतो मासमेकभुक्तेन यः क्षिपेत्। तत्र तत्राभिषेकेण पूज्यते ज्ञानवर्द्धनः॥

श्रावणमें भगवान्‌की प्रसन्नताके लिये एकभुक्त रहना, जलपूर्ण-धार-दान, शिवाभिषेक, विष्णु-अभिषेकादिकी भी बड़ी महिमा है। इसमें गणेशजीकी दूर्वादल तथा भगवान् विष्णुकी दूर्वा, तुलसी, अलसी, केवड़ा, कदम्ब आदिसे पूजाका भी बड़ा माहात्म्य है। रोटकव्रत धनवर्धक है। इसके माहात्म्यमें सौम्यपुरके सोमराजाका उल्लेख है; इसने भगवान् शिवकी आज्ञासे श्रावणके प्रथम सोमवारसे कार्तिकतक रोटकव्रतका अनुष्ठान किया था, जिससे उसे अक्षय ऐश्वर्यकी प्राप्ति हुई।

श्रावणे च सिते पक्षे प्रथमे सोमवासरे। सार्द्धमासत्रयं विप्र कर्तव्यं विधिपूर्वकम्॥
बिल्वपत्रैरखण्डैश्च तुलसीपत्रकैस्तथा। नीलोत्पलैश्चारुतरैः कर्तव्या पुण्यवर्द्धिनी॥

देवीपुराणके अनुसार पञ्चमीके दिन सीज वृक्षको अपने घरके आँगनमें लाकर उसमें मनसादेवीका आवाहन करके पूजा करनी चाहिये; इससे सर्प-भय नहीं होता—

पूजयेन्मनसादेवीं स्नुहीविटपमाश्रिताम्। देवीं सम्पूज्य नत्वा च न सर्पभयमाप्नुयात्॥

साथ ही नाम-मन्त्रोंसे शेषनाग, वासुकि, तक्षक, मणिभद्रक, महापद्म, शङ्खपाल, ऐरावत, कर्कोटक और धनंजय नागकी पूजा करनी चाहिये और इन्हें दूध-घीका नैवेद्य अर्पण करना चाहिये। श्रावणमासमें निम्बवृक्षमें देवीपूजाकी भी विधि है। पुराणोंके अनुसार इस मासमें निम्बवृक्षमें दुर्गादेवीका निवास होता है। निम्बवृक्षमें झूलेपर देवीको झुलाते हैं। वैसे भगवान् राम-कृष्णके भक्त अयोध्या, चित्रकूट, मथुरा, वृन्दावन आदि तीर्थोंमें अपने इष्टदेवोंका भी बड़े समारोहसे झूलन-महोत्सव और विशेष श्रृङ्गार एवं रास-नृत्य-गीतादिका आयोजन करते हैं। इस मासमें शिवके सहस्रनामोंद्वारा बिल्वपत्रोंसे शिवार्चनकी विशेष महिमा है। 'चातुर्मास्य-माहात्म्य'में कहा गया है कि एक बार घूमते-घामते पार्वतीके मस्तकपर श्रमजनित स्वेद-बिन्दु आ गये, जिन्हें उन्होंने अपने हाथसे पोंछकर पृथ्वीपर छिड़क दिया। बस, वहाँ तुरंत एक वृक्ष प्रकट हो गया। पार्वतीने जब विजयासे पूछा कि यह वृक्ष कहाँसे आया तो विजयाने उपर्युक्त बात बतलायी। इसपर पार्वतीने पृथ्वीमें बिल बनाकर भेदन कर निकलनेवाले इस विशिष्ट वृक्षका नाम 'बिल्व' रख दिया। साथ ही उन्होंने कहा कि जो इस वृक्षके पत्तोंसे मेरी पूजा करेगा, वह राजा (शासक) होगा तथा उसकी सभी कामनाएँ पूरी हो जायँगी। जो इसके पत्तोंमें श्रद्धा करेगा, उसे मैं अपार धन दूँगी। जो इसके पत्तेको खानेकी इच्छा करेगा, उसके हजारों पाप तुरंत अपने-आप नष्ट हो जायँगे। जो इसे सिरसे लगायेगा, वह कभी नरकोंमें नहीं जायगा।

यो दृष्ट्वा बिल्वपत्राणि श्रद्धामपि करिष्यति। पूजनार्थाय विधये धनदाहं न संशयः॥
पत्राग्रप्राशने यस्तु करिष्यति मनो यदि। तस्य पापसहस्राणि यास्यन्ति विलयं स्वयम्॥

(स्कन्दपु० ३।३।१८।१०-११)

भगवती सरस्वतीके वरदानानुसार इसके मूलमें गिरिजा, स्कन्धोंमें सती, फलमें कात्यायनी, मध्यमें अपर्णा, पुष्पमें दुर्गा और कण्टकोंमें नौ करोड़ शक्तियोंका निवास है। जो इससे शिव-पार्वतीकी पूजा करते हैं, उनकी सारी कामनाएँ पूर्ण हो जाती हैं। वस्तुतः तथ्यपूर्ण बात तो यह है कि यह बिल्ववृक्ष स्वयं विश्वेश्वरी पार्वतीका ही रूप है।

प्राणिरक्षार्थं संस्थिता गिरिजाज्ञया॥
कण्टकेषु च सर्वेषु कोटयो नवसंख्यया। शक्तयः
यं यं कामं कामयते तस्य सिद्धिर्भवेद् ध्रुवम्॥
तां भजन्ति सुपत्रैश्च पूजयन्ति सनातनीम्।
ममेश्वरी सा गिरिजा महेश्वरी विशुद्धरूपा जनमोक्षदात्री।
हरं च दृष्ट्वाथ पलाशमाश्रितं स्वलीलया बिल्ववपुश्चकार सा॥ (वही ४२-४३)

जा० श०

भगवान् चन्द्रशेखरकी शरण

रत्नसानुशरासनं रजताद्रिशृङ्गनिकेतनं शिञ्जिनीकृतपन्नगेश्वरमच्युतानलसायकम्।
क्षिप्रदग्धपुरत्रयं त्रिदशालयैरभिवन्दितं चन्द्रशेखरमाश्रये मम किं करिष्यति वै यमः॥
पञ्चपादपपुष्पगन्धिपदाम्बुजद्वयशोभितं भाललोचनजातपावकदग्धमन्मथविग्रहम्।
भस्मदिग्धकलेवरं भवनाशिनं भवमव्ययं चन्द्रशेखरमाश्रये मम किं करिष्यति वै यमः॥
मत्तवारणमुख्यचर्मकृतोत्तरीयमनोहरं पङ्कजासनपद्मलोचनपूजिताङ्घ्रिसरोरुहम्।
देवसिद्धतरङ्गिणीकरसिक्तशीतजटाधरं चन्द्रशेखरमाश्रये मम किं करिष्यति वै यमः॥
कुण्डलीकृतकुण्डलीश्वरकुण्डलं वृषवाहनं नारदादिमुनीश्वरस्तुतवैभवं भुवनेश्वरम्।
अन्धकान्तकमाश्रितामरपादपं शमनान्तकं चन्द्रशेखरमाश्रये मम किं करिष्यति वै यमः॥
यक्षराजसखं भगाक्षिहरं भुजङ्गविभूषणं शैलराजसुतापरिष्कृतचारुवामकलेवरम्।
क्ष्वेडनीलगलं परश्वधधारिणं मृगधारिणं चन्द्रशेखरमाश्रये मम किं करिष्यति वै यमः॥

(पद्मपुराण, उत्तरखण्ड २३२)

'कैलासके शिखरपर जिनका निवासगृह है, जिन्होंने मेरुगिरिका धनुष, नागराज वासुकिकी प्रत्यञ्चा और भगवान् विष्णुको अग्निमय बाण बनाकर तत्काल ही दैत्योंके तीनों पुरोंको दग्ध कर डाला था, सम्पूर्ण देवता जिनके चरणोंकी वन्दना करते हैं, मैं उन भगवान् चन्द्रशेखरकी शरण लेता हूँ; यमराज मेरा क्या करेगा ? मन्दार, पारिजात, संतान, कल्पवृक्ष और हरिचन्दन—इन पाँच दिव्य-वृक्षोंके पुष्पोंसे सुगन्धित युगल चरण-कमल जिनकी शोभा बढ़ाते हैं, जिन्होंने अपने ललाटवर्ती नेत्रसे प्रकट हुई आगकी ज्वालामें कामदेवके शरीरको भस्म कर डाला था, जिनका श्रीविग्रह सदा भस्मसे विभूषित रहता है, जो भव—सबकी उत्पत्तिके कारण होते हुए भी भव (संसार)के नाशक हैं तथा जिनका कभी विनाश नहीं होता, मैं उन भगवान् चन्द्रशेखरकी शरण लेता हूँ; यमराज मेरा क्या करेगा ? जो मतवाले गजराजके मुख्य चर्मकी चादर ओढ़े परम मनोहर जान पड़ते हैं, ब्रह्मा और विष्णु भी जिनके चरणकमलोंकी पूजा करते हैं तथा जो देवताओं और सिद्धोंकी नदी गङ्गाकी तरङ्गोंसे भीगी हुई शीतल जटा धारण करते हैं, मैं उन भगवान् चन्द्रशेखरकी शरण लेता हूँ—यमराज मेरा क्या करेगा ? गेंडुल मारे हुए सर्पराज जिनके कानोंमें कुण्डलका काम देते हैं, जो वृषभपर सवारी करते हैं, नारद आदि मुनीश्वर जिनके वैभवकी स्तुति करते हैं, जो समस्त भुवनोंके स्वामी, अन्धकासुरका नाश करनेवाले, आश्रितजनोंके लिये कल्पवृक्षके समान और यमराजको भी शान्त करनेवाले हैं, मैं उन भगवान् चन्द्रशेखरकी शरण लेता हूँ; यमराज मेरा क्या करेगा ? जो यक्षराज कुबेरके सखा, भग देवताकी आँख फोड़नेवाले और सर्पोंके आभूषण धारण करनेवाले हैं, जिनके श्रीविग्रहके सुन्दर वामभागको गिरिराज-किशोरी उमाने सुशोभित कर रखा है, कालकूट विष पीनेके कारण जिनका कण्ठभाग नीले रंगका दिखायी देता है, जो एक हाथमें फरसा और दूसरेमें मृग लिये रहते हैं, मैं उन भगवान् चन्द्रशेखरकी शरण लेता हूँ; यमराज मेरा क्या करेगा ?'